सामयिक वार्ता

अप्रैल 2019, वर्ष 42 अंक 1-2

संस्थापक संपादक : किशन पटनायक

संपादक मंडल

सच्चिदानंद सिन्हा,
कमल बनर्जी, अफलातून, संजय भारती,
बाबा मायाराम, चंचल मुखर्जी (संयोजक)

संपादन सहयोग

लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, प्रियदर्शन
अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन
अरुण कुमार त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव
महेश विक्रम सिंह

प्रबन्ध सहयोग : नीता चौबे

परामर्श मंडल

योगेन्द्र यादव, स्मिता, कश्मीर उप्पल

अक्षर संयोजन : गौरीशंकर सिंह

आवरण चित्र : सुशील त्रिपाठी

खाता नाम - सामयिक वार्ता
या Samayik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा - सोनारपुरा, वाराणसी
Sonarpura, Varanasi (U.P.)
खाता संख्या **40170100005458**
IFSC Code : BARB0SONARP
(यहाँ दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं
S के बाद O (ओ) है।)
MICR CODE : 221012030
इस खाते में पैसा जमा करने तथा ग्राहक के पते की सूचना
ई-मेल अथवा मोबाइल-08765811730/ 08004085923

कार्यालय
डी. 28/160, पाण्डे हवेली, वाराणसी-221001
फोन : 08004085923 (संपादन),
08765811730 (प्रबंध)
e-mail- varta3@gmail.com

इस अंक में

2 **सम्पादकीय : एक समृद्ध विरासत पर गिरा परदा**
प्रियदर्शन

4 **एक ज़िद की तरह अडिग**
ओम थानवी

7 **उन्हें अपनी किताब का क़र्ज़ चुकाना था**
अर्चना वर्मा

10 **एक प्रखर आलोक का पर्याय कृष्णा सोबती**
मनीषा कुलश्रेष्ठ

11 **नामवर सिंहः एक दौर की विदाई**
संजीव कुमार

14 **समय को पढ़नेवाली नजर और इतिहास को गढ़नेवाली कलम**
विद्याभूषण

15 **अर्चना वर्मा यानी विचारों और बहसों का अनंत**
प्रियदर्शन

18 **हम विकास को नकारते हैं।**
विवेकानंद माथने

20 **टाल्सटाय को याद करना क्यों जरूरी है**
भारत डोगरा

22 **समाज में स्त्रियों की अ-दृश्य भूमिका**
शंपा शाह

24 **मेरा पहला दोस्त**
प्रीतीश आचार्य

28 **नफरत के खिलाफ बेखौफ ऐलान**
पारुल शर्मा

30 **अगस्त क्रांति के स्वर्णिम अध्याय का पटाक्षेप हो गया**
नवीन

32 पुस्तक समीक्षा : **चार्वाक के वारिस-सुभाष गाताडे**
डॉ॰ महेश विक्रम

39 **राजनैतिक प्रस्ताव, भुवनेश्वर**

42 **भाजपा की भूमिका से बेचैन हैं आदिवासी**
अनुराग मोदी

नियमगिरि पर ओडीशा राज्यपाल को ज्ञापन

सदस्यता शुल्क : एक प्रति : 20/-, वार्षिक शुल्क : 150/-, संस्थागत वार्षिक शुल्क : 200/-
पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-, आजीवन शुल्क : 2000/-

<u>संपादकीय</u>

एक समृद्ध विरासत पर गिरा परदा

पिछले कुछ दिनों में हमने अपने कई मूर्द्धन्य लेखक और आलोचक खो दिए। 2017-18 में चंद्रकांत देवताले, कुंवर नारायण, केदारनाथ सिंह और विष्णु खरे जैसे लेखकों के शोक से हिंदी समाज अभी ठीक से उबर भी नहीं पाया था कि इस साल एक के बाद एक आघात हुए। जनवरी में कृष्णा सोबती का निधन हो गया। फरवरी में एक दिन जैसे सबसे गपशप करती हुई, सबसे मिलती-जुलती अर्चना वर्मा हाथ छुड़ा कर चल दीं। और अर्चना जी की जिस दिन अंत्येष्टि हो रही थी, उसके एक दिन बाद नामवर सिंह के न रहने का दुखद समाचार आया।

कृष्णा सोबती और नामवर सिंह दोनों नब्बे के पार थे। कृष्णा के लिए पिछले कुछ दिनों से घर और अस्पताल की आवाजाही लगभग नियमित सी हो गई थी। नामवर सिंह लगातार अशक्त हुए जा रहे थे और आखिरी दिनों में बिस्तर पर गिरने की वजह से सिर पर लगी चोट से जूझ रहे थे। बस अर्चना जी ऐसी थीं जो बहुत सक्रिय थीं और इस सक्रियता के बीच उनके जाने की खबर बिल्कुल अविश्वसनीय लगती रही।

लेकिन यह मृत्यु का शोक नहीं, एक भरे-पूरे जीवन के मूल्यांकन की जरूरत है जिसे सामयिक वार्ता की टीम ने महसूस किया और पत्रिका में इन मूर्द्धन्यों के लिए कुछ जगह निकाली। दरअसल ये अवसान इस बात की ओर भी इशारा हैं कि हमसे वह पूरा का पूरा दौर विदा हो रहा है जिसने स्वातंत्र्योत्तर भारत में हिंदी के लेखन और चिंतन की परंपरा बनाई और हम बहुत सारे लोगों को लिखना-पढ़ना सिखाया। ये तमाम लोग सिर्फ़ हिंदी साहित्य के नहीं, हिंदी समाज के लोग हैं और इनके बारे में जानना-विचार करना अपने समय और समाज की चुनौतियों को जानना-समझना है। पुरुष वर्चस्व के मारे हिंदी समाज और साहित्य में कृष्णा सोबती का आगमन किसी विस्फोट की तरह था। बेशक, उनके पहले हिंदी में महादेवी वर्मा और सुभद्रा कुमार चौहान जैसी लेखिकाओं की एक परंपरा थी, लेकिन पहली बार कृष्णा सोबती पुरुष वर्चस्व के उन क़िलों में सेंध लगाती नज़र आईं, जहां स्त्रियों का प्रवेश पहले निषिद्ध माना जाता था। उन्होंने बंटवारा देखा था, विस्थापन देखा था और स्त्रियों का दमन देखा था। संभवतः इस जीवन में उनमें एक अनूठा जीवट और जुझारूपन पैदा किया जो उनकी रचनाओं में भी दिखता है। उनकी नायिकाएं हाड़-मांस की वे लड़कियां हैं जो पुरुष वर्चस्व द्वारा अनुशासित किए जाने से इनकार करती हैं। वे शील और लिहाज के, बोली-बानी के बनाए गए वर्चस्ववादी मानकों की उपेक्षा ही नहीं करतीं, उनकी धज्जियां भी उड़ाती हैं। पूछा जा सकता है कि इसका हासिल क्या था? जवाब है- वह व्यक्तित्व जो उनकी किरदारों ने अर्जित किया और उनको पढ़ने वाली कई पीढ़ियों के भीतर उसके बीज पड़े। कृष्णा सोबती न होतीं तो हिंदी में जीवट का वह मुहावरा कुछ कमज़ोर होता जो उनके लिखे हुए को एक अलग सा जीवन देता था।

दूसरी बात यह कि कृष्णा सोबती ऐसे समय में लिख रही थीं, जब हिंदी का लेखन- ख़ास कर गद्य लेखन मूलतः पुरुषों के हवाले था। छठे-सातवें दशकों में जो कथा-पीढ़ी हिंदी के आसमान पर चमक रही थी, उसमें लगभग निरपवाद सब पुरुष थे। धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, ज्ञानरंजन और ऐसे ही ढेर सारे नाम उन दिनों सितारा लेखक थे। इनके बीच कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी ही दो ऐसी लेखिकाएं रहीं जिन्होंने अपनी बिल्कुल बराबरी की पहचान बनाई। मन्नू भंडारी का लेखन अपनी सारी मानवीयता के बावजूद मध्य वर्ग के दायरे में कैद लेखन था- बेशक इस मध्यवर्ग के तनाव को, उसकी सीमाओं और उसकी सोच को उनकी कहानियां बहुत करीने से रखती हैं, लेकिन कृष्णा सोबती जैसे इन सबके पार जाने के लिए बनी थीं।

यहां एक बात और ध्यान देने लायक है। कृष्णा सोबती किसी शून्य की पैदाइश नहीं थीं। इत्तिफाक से जब वह पैदा हुईं, तब भारतीय साहित्य की कई और बड़ी लेखिकाएं पैदा हुईं।

कृष्णा सोबती का जन्म 1925 का है, उनके कुछ ही महीनों में 1926 की जनवरी में बांग्ला साहित्यकार महाश्वेता देवी का जन्म होता है और इसके ठीक एक साल बाद उर्दू लेखिका कुर्रतुलऐन हैदर का। इस कैलेंडर को कुछ और पीछे

करें तो हम पाते हैं कि पंजाबी की लेखिका अमृता प्रीतम 1919 में पैदा होती हैं और उर्दू की इस्मत चुगतई 1915 में। महादेवी और आशापूर्णा देवी कुछ और बरस पुरानी हैं। यानी महिला लेखन का जो एक भरा-पूरा दौर अपनी शर्तों, अपनी बगावतों, अपने केस-मुकदमों, अपनी मोहब्बतों और अपनी रचनाओं के साथ आजादी की लड़ाई के दर्मियान और उसके बाद पला-बढ़ा, वह एक ही मौसम की उपज था, एक ही हवाओं में सांस ले रहा था। यह बहुत मूल्यवान दौर है जिस पर कृष्णा सोबती के निधन ने लगभग पर्दा डाल दिया है।

नामवर सिंह कृष्णा सोबती से महज दो साल छोटे थे। हालांकि उनके बीच भौगोलिक दूरी कहीं ज़्यादा बड़ी थी। कृष्णा सोबती लाहौर-दिल्ली और पंजाब की खुशबू से रची-बसी भाषा और संवेदना लेकर आई थीं तो नामवर सिंह बनारस के एक गांव जीयनपुर से निकल कर बीएचयू, सागर, जोधपुर होते हुए दिल्ली के जेएनयू में स्थापित हुए थे। जिस तरह कृष्णा सोबती ने अपनी समकालीन रचनाओं को नया मिज़ाज दिया, उसी तरह नामवर सिंह ने आलोचना को नई वैचारिकी दी। वे गजब के अध्येता, शिक्षक और आलोचक रहे। ‘छायावाद, ‘कविता के नए प्रतिमान’ और ‘दूसरी परंपरा की खोज’ जैसी किताबें लिखकर उन्होंने एक ललित आलोचना विकसित की- यानी ऐसी आलोचना जो सिर्फ़ अकादमिक दायरों में सिमटी हुई और उसकी परंपरा से बंधी हुई न हो, बल्कि आम लोगों को भी सोचने-विचारने और समझने का अवसर देती हो। यह नामवर सिंह ही थे जिन्होंने अपने गुरु हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के हवाले से हिंदी वालों को समझाया कि परंपरा एक नहीं होती है, परंपराएं बहुत सारी होती हैं। उन्होंने यह भी समझाया कि कुछ परंपराओं को छोड़ना पड़ता है और कुछ परंपराओं में नया जोड़ना पड़ता है। हिंदी में आधुनिकता की बात या आधुनिक विचार का प्रवेश कोई नई बात नहीं है, कई विद्वानों और लेखकों की किताबों में यह सब मिल जाता है, लेकिन उसको बिल्कुल लोकतांत्रिक आचार-व्यहार और संस्कार का हिस्सा बनाने में नामवर सिंह की जो भूमिका रही, वह अतुलनीय और अविस्मरणीय है। नामवर न होते तो हिंदी के बहुत सारे लेखकों को उस तरह पढ़ना-देखना आसानी से संभव न हो पाता जिस तरह उन्हें देखा गया।

नामवर सिंह ने एक और बड़ा काम किया। वे किन्हीं अध्ययनकक्षों में बैठकर तपस्या की तरह लिखने-पढ़ने वाले ऋषितुल्य विद्वान या लेखक नहीं थे। यह चीज उनको रास भी नहीं आती थी। वे सभाओं और गोष्ठियों में बोलने वाले आलोचक थे। अपनी आलोचना के लगभग आखरिी तीन दशक उन्होंने लगभग भाषण देते हुए काटे। लेकिन ये भाषण सिर्फ दिल्ली या बड़े केंद्रों में नहीं दिए गए, उन्होंने देश के तमाम छोटे-बड़े शहरों में घूम-घूम कर व्याख्यान दिए। वे एक तरह से हिंदी की जड़ता को तोड़ने और उसे आधुनिक संस्कार देने का काम किया। जैसे एक नदी अपने तटों को सींचती है, नामवर सिंह हिंदी के तटों को भी सींचते रहे। इस प्रक्रिया में उनका अपना क़द भी लगातार बड़ा रहा। हिंदी का हर लेखक अपने लिए उनकी स्वीकृति चाहता। वे जिस विचार पर मोहर लगाते, वह हिंदी का विचार बन जाता। वे जिस किताब का ज़िक्र करते, वह बड़ी किताब हो जाती। निस्संदेह, ऐसी विराट लोकप्रियता और उसके दबाव में पैदा दैनंदिक आलोचना के अपने खत़रे होते हैं जिनका असर नामवर सिंह पर भी दिखा। बाद के दौर में उन्होंने जितनी आलोचनाएं की नहीं, उनसे ज़्यादा झेलीं। लेकिन यह तथ्य फिर भी बना रहता है कि नामवर सिंह ने हिंदी के खेतों को उपजाऊ बनाया। उन्होंने विश्वविद्यालयों के अनूठे और प्रगतिशील पाठ्यक्रम बनाए। उन्होंने विश्वविद्यालयों में पढ़ाते हुए उन्होंने सुयोग्य शिष्यों की कई कतारें खड़ी कीं जो बाद में योग्य शिक्षक भी बने। वे हिंदी का पर्यावरण थे, उसकी पारिस्थितिकी का वह मूल तत्व, जिससे हमारा संसार बना है। वे मूलतः मार्क्सवादी आलोचक थे, लेकिन रचनाओं को देखने की उन्होंने एक स्वतंत्र दृष्टि विकसित की। इस दृष्टि में लोकतत्व और भारतीय परंपराओं की भी अचूक पहचान थी और आधुनिकता के लक्षणों की भी। इसी दृष्टि की वजह से उन्होंने सांप्रदायिकता और फासीवाद के खत़रों को भी समझा था और इनके खिल़ाफ़ वैचारिक मोर्चाबंदी में कभी कोई कसर नहीं छोड़ी। ‘आलोचना’ के संपादक के तौर पर उन्होंने लगातार इन विषयों पर लिखा और लिखवाया। साल 2000 में जब आलोचना पुनर्नवा हुई तो उसके पहले अंक में उन्होंने एजाज अहमद का एक लेख मुझसे अनूदित करवाया।

खास बात यह भी थी कि नामवर सिंह नई पीढ़ी को बहुत पढ़ते थे और उनसे संवादरत भी रहते थे। मेरी तरह के बहुत सारे लोगों का यह अनुभव है कि अपने युवा दिनों में अचानक अपनी किसी टिप्पणी पर नामवर सिंह का फोन मिला और वे हैरान रह गए। अब उन जैसा चौकस और समग्र बौद्धिक हिंदी को कब मिलेगा, इसकी बस प्रतीक्षा की जा सकती है।

अर्चना वर्मा कृष्णा सोबती और नामवर सिंह दोनों से बहुत छोटी थीं। संभवतः अपनी युवावस्था में उन्होंने इन्हें

पढ़ना शुरू कर दिया होगा। अगर ध्यान से देखें तो अर्चना वर्मा के व्यक्तित्व के कुछ रेशे उन्हें कृष्णा सोबती के करीब ला खड़ा करते हैं तो कुछ दूसरे रेशे उन्हें नामवर सिंह के करीब ले जाते हैं। वैसे वे साहित्यकारों के बीच सबसे करीब संभवतः राजेंद्र यादव के रहीं और 'हंस' जैसी पत्रिका के संपादन में बरसों तक उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। जब किसी अयाचित स्थिति में उन्हें 'हंस' से अलग होना पड़ा तो उन्होंने दूसरी कथा पत्रिका 'कथादेश' का काम संभाला। वे अपनी मृत्यु से पहले तक 'कथादेश' के अंक तैयार करने में लगी रहीं।

कृष्णा सोबती में जो विद्रोह बहुत प्रत्यक्ष और मुखर था, वह अर्चना वर्मा के भीतर कुछ आंतरिक और वैचारिक दृढ़ता के साथ खिलता था। अमूमन अपनी शांत-संयत उपस्थिति के बीच जब वे किन्हीं विषयों पर- खासकर स्त्रियों से जुड़े विषयों पर- अपनी राय रखना शुरू करती थीं तब भान होता था कि वे विचारों में किस हद तक आधुनिक, प्रयोगशील और कभी-कभी दुस्साहसी भी हैं। उन्होंने अपना जीवन अपनी शर्तों पर जिया और अपने लेखन में भी कभी कोई वैचारिक बाड़ेबंदी मंज़ूर नहीं की। यह चीज़ अगर उन्हें कृष्णा सोबती के करीब लाती थी तो एक दूसरी खूब़ी उन्हें नामवर सिंह की विरासत से जोड़ती थी। वे बहुत गहन अध्येता थीं और बहुत सूक्ष्म विश्लेषणकर्ता। कई बार वे विचार की तहों की इतनी चीरफाड़ करतीं कि हमारी तरह के अधीर पाठकों को- जो एक पके-पकाए 'पैकेज्ड' विचार- के आदी हो गए हैं, लगभग कोफ्त सी होने लगती। फिर हाल के दिनों में लगातार जैसे वे दक्षिणपंथ की ओर जा रही थीं और यह बात भी हम लोगों को उदास और विचलित करती थी जो उनसे खूब बहस किया करते थे। लेकिन इस अंतर्विरोध में भी हमारे लिए सीखने को काफी कुछ था- कम से कम यह विश्लेषण करने के लिए- कि आखिरकार वे कौन सी सीमाएं हैं जिनकी वजह से अपने मूल रेशों में प्रगतिशील और समाजवादी मानसिकता के लोग वैचारिक स्तर पर इससे दूर जा रहे हैं।

कृष्णा सोबती के निधन के बाद जब हम उन पर केंद्रित सामयिक वार्ता के अंक की योजना बना रहे थे तब यह कतई खयाल नहीं था कि आने वाले दिनों में हमें इस योजना में कुछ और नाम जोड़ने होंगे। अर्चना वर्मा ने भी हमारे आग्रह पर कृष्णा जी पर एक श्रद्धांजलि लिखी थी, जो संभवतः उनकी आखिरी लिखी हुई रचना हो। क्या अफ़सोस है कि अब इसी अंक में उनकी भी श्रद्धांजलि जा रही है।

हम जैसा यह अंक तैय़ार करना चाहते थे, वैसा नहीं हो पाया- कुछ हमारे साधनों की सीमा, कुछ हमारे हिंदी समाज की। फिर भी बस यह याद दिलाने के लिए हमने कितनी महत्वपूर्ण विरासत खो दी है, हम पूरी विनम्रता के साथ यह सामग्री आपके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं।

–प्रियदर्शन

एक ज़िद की तरह अडिग

ओम थानवी

कृष्णा सोबती की हिंदी अपनी हिंदी थी। दूसरे, वे विचारक कथाकार थीं: उनकी रचनाएँ निपट दास्तान नहीं हैं; उनमें एक सुसंगत दृष्टि की निरंतरता है।

फिर भी, अपनी भाषा को गढ़ना और उसे स्थापित ढाँचे या साँचे में ढलने से जतन से बचाना उनकी बड़ी उपलब्धि थी। अगर किसी अतिउत्साही सम्पादक ने उसे अपनी भाषा से बेतरह माँज न दिया हो, जैसा कि 'चन्ना' जैसी कुछ रचनाओं में अब भी पकड़ा जा सकता है, तो आप उस विशिष्ट रंग वाली हिंदी का लुत्फ़ ले सकते हैं। ज़रूर इसके लिए हमें अपने आपको तैयार और समर्पित करना पड़ता है। थोड़े ही समय में उस ऊबड़खाबड़ ज़मीन पर आप सरपट दौड़ती जीवन-गाथाएँ, दुख की लकीरें, सुख की छटपटाहट, मानवीय रिश्तों के राग-विराग और जीवन का एक सुचिंतित दर्शन पाने लगते हैं।

कृष्णा सोबती खुशक़िस्मत थीं कि उन पर रेणु जैसा 'हिंदी में आँचलिक' होने का बिल्ला नहीं जड़ा गया, न 'हिंदी में मुस्लिम लेखक' जैसी तर्ज़ पर 'महिला लेखक' होने का। हालाँकि कृष्णाजी के लेखन में आंचलिकता की बड़ी छाया थी और पुरुष लेखकों की भीड़ में वे दबंग महिला के रूप में पहचानी भी गईं।

कृष्णाजी की असल पहचान इसमें थी कि उन्होंने बँटवारे की टूट से पहले वाले पंजाब के ग्रामीण जीवन को शिद्दत से रूपायित किया। किसान और अन्य तबके। उनकी बोली की गंध और अनवरत संघर्ष। जीने की मुश्किलों के बीच उभरता जीवट। और एक आसन्न क़हर की काली छाया।

दूसरी पहचानः औरत की आज़ादी की पुकार, उसके हक़-हुकूक की तरफ़दारी, आक्रांत करने वाली समांतर बिरादरी से अपनी शर्तों पर जूझने, अपने संकल्पों में आप खड़ी होने वाली स्त्री का अटूट साथ। उसका साहसिक चित्रण।

दोनों पहचानों में कृष्णाजी ज़मीन की ही रचनाकार थीं। इसके साथ स्वाभिमान के साथ अपनी शर्तों पर जीने, सत्ता से कोस भर की दूरी बनाकर चलने, वक़्त पड़ने भर उसे ललकारने और सरेआम फटकारने ने भी उन्हें विशिष्ट पहचान दी।

कृष्णा सोबती के होने में भाषा की रंगत और चरित्रों को रचने, उन्हें खड़ा करने की महारत अहम थी। पंजाब से आने वाले अनेक हिंदी लेखकों ने जहाँ अपनी कथा-वस्तु में देस-दिसावर और चरित्रों के मामले में दूर निकलन आने के साथ हिंदी के साधु-रूप को साधने की सफल-विफल कोशिशें कीं, कृष्णाजी अपने देशज, अनगढ़, सादे और खुरदरे मगर बेलौस मुहावरे में एक ज़िद की तरह अडिग रहीं।

रचना-संसार को वे 'कुछ नया' देना चाहती थीं। उन्होंने जो दिया, नया दिया।

उनकी कृतियों में अनेक अविस्मरणीय हैं। अलग-अलग कारणों से। कोई ज़मीनी अनुभव-संसार में, कोई संश्लिष्ट चरित्रों तो कोई दो-टूक भाषा के चलते। जब 1958 में 'डार से बिछुड़ी' को पहले-पहल 'निकष' पत्रिका ने प्रकाशित किया, उसने पाठकों में बहुत बेचैनी पैदा की थी। पाशो की विधवा माँ जैसे अपने भाइयों से विद्रोह कर किसी रईस के घर जा बसती है, पाशो भी समाज और नियति के थपेड़ों में, वेदना के तमाम अनुभवों के बीच, अपने विद्रोही मन और तेवरों में नए ठिकानों से जूझती जाती है।

यारों के यार, मित्रो मरजानी, ऐ लड़की आदि कृतियों ने भी उसी तरह हिंदी संसार को चौंकाया और शायद विचलित भी किया। खास़कर 'मित्रो मरजानी' में स्त्री की बेधड़क ज़ुबान लोगों के गले आसानी से नही उतरी। भले राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने उसका मंचन भी किया।

इन सब रचनाओं के बीच 'ज़िंदगीनामा' उनका शाहकार साबित हुआ। भारतीय कथा साहित्य में यह उपन्यास 'एपिक' का दर्ज़ा रखता है।

विभाजन के संदर्भ से हिंदी में ज़्यादा नहीं लिखा गया है। पर कृष्णाजी खुद़ एक आहत परिवार से आती थीं, जिनके दिलोदिमाग़ में दरबदर होने की टीस किसी आदिम हूक की तरह धंसी थी। कहानी 'सिक्का बदल गया' उन्होंने नई सरहदें खिंचने के फ़ौरन बाद लिखी। लेकिन हिंसा पर नहीं, मानवता पर।

शाहणी (सम्पन्न की बीवी) के हवाले से असल में वह उनकी नानी की आँखों देखी दास्तान थी। नानी को परिचित पुलिस अधिकारी ने शिविर तक छोड़ा तो पीछे गाँव भी चला आया। बाद में दो बुज़ुर्ग मुसलमानों ने पीड़ा के साथ कहा था - शाहणी, हम तुम्हारी हिफ़ाज़त नहीं कर सके; राज पलट गया, सिक्का बदल गया। बरसों बाद अपनी कहानी फिर से पढ़ते हुए कृष्णाजी को हैरानी अनुभव हुई थी कि ऐसी व्यथा इतने ठहरे हुए अन्दाज़ में कैसे लिखी।

फिर कभी (आलोक भल्ला से बातचीत में) उन्होंने कहा कि 'हो सकता है कि पहले मैं घटनाओं के ज़्यादा निकट थी। मैं उनका हिस्सा थी और उनसे जूझने का हुनर मेरे पास नहीं था'। उन्होंने यह भी बताया कि उस दौर में शरणार्थी कहा जाने वाला समुदाय पीछे छूट आए समय की बात तक नहीं करना चाहता था। खास़कर औरतों के लिए वह 'बेहद दुखद विषय' था, लगभग वर्जित। लोग अदम्य पीड़ा से भरे अतीत को भुलाना चाहते थे, अपने आप को उन्होंने 'समय के हवाले' कर दिया थाः 'यहाँ तक कि उन्होंने पीछे छूट गई, या मार दी गई, औरतों के नाम तक भुला दिए। ... हमारे अपने परिवार में दो लड़कियाँ पीछे छूट गई थीं। हमें नहीं पता था कि उनका क्या हुआ; हम यह मान लेना चाहते थे कि वे मर गईं।'

मगर हिंसारहित वर्णन की वजह और भी रही होगी। वे स्वभाव से मानवतावादी थीं। बँटवारे में देखी गई घृणा, सांप्रदायिकता और हिंसा की जगह मानवता के बोध को वे साहित्य के लिए अहम और बचाकर रखने योग्य मानती थीं। साहित्यकार मानवीय मूल्यों को पुष्ट करता है, ऐसा साफ़ मानती और कहती थीं। उनके अनुभव में भारत और पाकिस्तान, दोनों देशों, के साहित्य में 'वीभत्सता के वर्णन' के बावजूद 'मानवीय मूल्यों के संरक्षण के प्रयास' हुए हैं। जिन लेखकों के बारे ऐसा दावे से कहा जा सकता हो, उनमें

कृष्णाजी निश्चय ही आगे होंगी।

’ज़िंदगीनामा’ उस कहानी के चार साल बाद लिखना शुरू किया। वृहद उपन्यास का वह पहला खाक़ा भर था, जो तीस साल बाद मुकम्मल हुआ। हालाँकि उनका पहला उपन्यास ‘चन्ना’ उनकी नज़र में ‘ज़िंदगीनामा’ की पृष्ठभूमि था। वह उपन्यास प्रेस में गया, पर प्रकाशक (भारती प्रकाशन, इलाहाबाद) से सम्पादन के विवाद में पूरा नहीं छपा। फिर काग़ज़ और छपे फ़रमों की क़ीमत अदा कर वे उसे वापस ले आईं। बहरहाल, कृष्णाजी कहती थीं कि ‘चन्ना’ जहाँ खत्म होता है, ‘ज़िंदगीनामा’ से वहीं शुरू होता है।

ज़िंदगीनामा’ उन्होंने तीन खंडों में लिखना चाहा थाः पहला ‘ज़िंदा रुख’, दूसरा ‘इंक़लाब ज़िंदाबाद’, तीसरा ‘आज़ादी हमारा पैदाइशी हक़ है’। पहले में विभाजन से पहले की ज़मीन और ज़िंदगी का ‘आख्यान’, दूसरे-तीसरे में आगे की तस्वीर। पहला खंड पूरा कर उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखी थीं, जो बाद में कृति की पहचान बनीं - ‘तौफ़ीक (बाद में इसे औक़ात किया) न क़लम की/ न लेखक की/ ज़िंदगी खुद़-ब-खुद़/ फैलती चली गई/ काग़ज़ के पन्नों पर/ कुछ इस तरह/ ज्यों धरती में उग आया हो/ गहरी जड़ों वाला विशाल ज़िंदा रुख’।

ज़ाहिर है, एक पेड़ (पंजाबी में रुख) की तरह क़ायम और पनपी हुई ज़िंदगी में वे इस सचाई की पड़ताल कर रही थीं कि लहलहाता पेड़ आखरि बिखरा क्यों। अगले खंड में वे उसके नए रूप को चित्रित करना चाहती थीं, क्योंकि ‘वह विशाल ज़िंदा-रूख आने वाली आँधी, अंधड़ और तूफ़ान में उखड़ने वाला था’। लेकिन ‘ज़िंदगीनामा’ का दूसरा खंड कभी सामने नहीं आया। कुछ अंश उसके हवाले से छपे। कोई पंद्रह वर्ष बाद छपे उपन्यास ‘दिलोदानिश’ में उन्होंने ‘ज़िंदगीनामा’ का इतिवृत्त ज़रूर देखा।

’ज़िंदगीनामा’ उजड़े खेतिहर भारत की जीवंत धड़कन की तरह प्रकट हुआ; आज भी उसकी अनुगूँज वही है। उसका हर पात्र संघर्ष और बेचैनी की अलग कहानी लेकर सामने आता है, अपने इर्द-गिर्द प्रत्यक्ष मगर आकस्मिक शक्ल में उठती-बैठती और अंततः छा जाती एक दारुण हक़ीक़त को बयान करते हुए।

कृष्णा सोबती होने की खा़सियत उनके कथ्य में ही नहीं, उनके शिल्प में भी नुमायाँ है। उन्हें पढ़ते हुए लगता है मानो महामार्ग की दुनिया से हटकर सहसा हम कंकर-पत्थर वाली पगडंडी पर उतर आए हों। वहाँ मंज़िल की फ़िक्र उतना नहीं सताती, जितना सफ़र का अनुभव रोमांचित करता है।

कृष्णाजी बहुत बीहड़ भाषा की धनी थीं। उन्हें अपनी भाषा-शैली पर गर्व था। रचना की ‘प्रेस-कॉपी’ तैयार करने में कॉपी-एडिटर (जिनमें कमलेश्वर और मोहन गुप्त से लेकर चेतन क्रांति आदि अनेक सहयोगी रहे) की सीमा वे खुद़ तय करती थीं। ‘चन्ना’ को प्रकाशक से वापस लेना और दशकों बाद रोगशैया पर उसका छपना इसका जीता-जागता उदाहरण है। वैसे बरसों उनका यही विचार रहा कि उपन्यास की सम्पादित कॉपी को छपवाने की जगह वे उसे दुबारा लिखेंगी।

इसका एक कारण शायद यह रहा हो कि अपनी भाषा को वे अपनी ज़मीन से बहुत दूर नहीं देख सकती थीं। अज्ञेय, यशपाल, अश्क़, भीष्म साहनी, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा आदि की तरह हिंदी उनके लिए भी ‘सीखी हुई भाषा’ थी। लेकिन भाषा के ‘परिष्कार’ या उसके साधु-रूप की उपलब्धि में उनकी आस्था नहीं थी। ‘ज़िंदगीनामा’ छपा, तब अमृतलाल नागर ने एक भेंट में उन्हें कहा कि बोलियों के अपरिचित शब्द अटपटे लगते हैं। वे विनम्रता से नागरजी को कह आईं कि हमारी बोलियाँ ही हिंदी को समृद्ध करेंगी।

ऐसे ही, एक बार किसी ने उनको यह तक सुनना पड़ा - इसे आप हिंदी कहती हैं? बांगडू ध्वनियों वाली ऊलजलूल उजबक भाषा है। ... कृष्णाजी ने जवाब दिया थाः महोदय, ज़रा भाव समझने की कोशिश भी कर ली होती!

बाद में जब ‘दूर-पास की बोलियों, किसानी लद्धड़पन, खेतिहर-गँवारू शैली और नाबदानी भाषा’ के खय़ालों से वे कुछ बेचैन हुईं तो एक ललित लेख (’शब्दों के आलोक में’ संकलित) लिखकर जी हल्का किया। उन्होंने लिखाः ‘ ... हिंदीशाही नहीं चलेगी। दक़ियानूसी नहीं चलेगी। पंडिताऊ भाषा नहीं चलेगी। बँटवारा-साज़िश नहीं चलेगी। भाषा में वर्ण-व्यवस्था नहीं चलेगी। ... हिंदी-संस्कृत महारानी की पुरानी धोती नहीं। वह अपने जन्मजात सामर्थ्य में जीवंत भाषा है। इसलिए नहीं कि वह अभिजात की भाषा है। इसलिए कि वह जनभाषा है। ...’

कृष्णाजी मानती थीं कि हर शब्द का एक जिस्म, एक रूह और एक पोशाक होती है। ये सब मिलकर ही जीते-जागते ज़िंदा विचार को वहन करते हैं। कहना न होगा, अपने रचना-कर्म में उन्होंने इसे खूब़ निभाया।

उन्हें अपनी किताब का क़र्ज़ चुकाना था

अर्चना वर्मा

कृष्णा सोबती तब मॉल रोड पर स्थित रिवियेरा अपार्टमेण्ट में रहती थी और मैं दिल्ली विश्वविद्यालय परिसर के मिराण्डा हाउस टीचर्स फ्लैट्स में। मेरा सौभाग्य कि उस दौरान मुझे उनके सम्पर्क में रहने और उनको थोड़ा पास से जानने का मौका मिला। कृष्णा सोबती, उषा प्रियम्वदा और मन्नू भण्डारी की तिकड़ी को हमारी पीढ़ी ने अपनी अग्रजा पीढ़ी की तरह पाया था। उषा प्रियम्वदा (अब उषा नीलसन) बहुत जल्दी ही विदेश प्रस्थान कर गयीं और लम्बे अन्तराल तक हिन्दी कथा से अनुपस्थित रहीं। संभवतः काफ़ी समय तक इस बात से भी अनभिज्ञ कि हिन्दी की नयी कहानी में उनकी सर्जना का मूल्यांकन कैसे हुआ है और उनकी 'वापसी तथा 'ज़िन्दग़ी और गुलाब के फूल' तथा नामक कहानियाँ काफ़ी समय तक नयी कहानी में अन्तर्वस्तु के बदलाव के उदाहरण की तरह उद्धृत की जाती रहीं हैं। मन्नू भण्डारी मिराण्डा हाउस के हिन्दी विभाग में मेरी सीनियर थीं और पुनः मेरा सौभाग्य कि विभाग में एक बहुत जूनियर नवागन्तुक के रूप में उनका मार्गदर्शन, स्नेह और संरक्षण मैने पाया। मन्नू दी ने जीवन का लम्बा अरसा परिवार, नौकरी, लेखन और भावात्मक तनावों के बीच सन्तुलन के तरह तरह के करतबों की कशमकश में गुजारा।

इस तिकड़ी में कृष्णा सोबती बाकी दोनो से बहुत अलग थीं। उन पर अपने पैतृक परिवार की जिम्मेदारियाँ तो थीं लेकिन अन्यथा वे स्वाधीन भारत के आधुनिक हिन्दी जगत की पहली स्वाधीन, सृजन को सम्पूर्णतः समर्पित स्वतंत्रचेता, अपनी जैसी अकेली और विलक्षण स्त्री रचनाकार थीं। रचनाकार के रूप में अपनी इस छवि को लेकर वे बहुत आत्म-सजग भी थीं।

आम स्त्री के जीवन की पति, परिवार, सन्तान इत्यादि झण्झटों और सृजन-बाधाओं से वे मुक्त थीं लेकिन इसका एक दूसरा पक्ष यह भी है कि सामान्यतः इन बाधाओं के नाम को रोती, झींकती, कोसती स्त्री जिस तरह अन्ततः उन झण्झटों, विशेषतः सन्तान, की 'उपलब्धियों' में अपने 'बलिदानों' का भी हिस्सा मानकर सन्तोष पा लेती है वैसा कोई विकल्प स्वाधीन स्वतंत्रचेता सृजन-समर्पित स्त्री के पास नहीं होता। उसके पास कोई रोल मॉडल भी नहीं होता, पहले कभी के या आस-पास के सीनियर्स में ऐसे लोग मौजूद भी हों या रहे हों तो उन्हें वह रोल मॉडल का दर्जा दे नहीं सकती क्योंकि वह उसकी स्वच्छन्दता का हनन होगा। इसीलिये उसके पास कोई ऐसे पैमाने और कसौटियाँ भी शायद नहीं होते जो खुद को और दूसरों को एक साथ समझ में आते हों। एक बार नरेश मेहता ने

उनके बारे में एक लेख लिखा था। सारिका में छपा था। शीर्षक था, 'एक अपरिभाषेय बान्धवी।' लेख तो अब याद नहीं है, शीर्षक से अन्दाज़ा लगा सकती हूँ कि कृष्णा सोबती के व्यक्तित्व के अत्यन्त ऊष्मा-सम्पन्न और प्रिय मित्र और बन्धु भाव के विषय में रहा होगा। नरेश मेहता को कृष्णा सोबती के वकील की तरफ़ से नोटिस मिला जिसमें उस लेख को आपत्तिजनक पाया गया था। चर्चित घटना थी क्योंकि एक तो नरेश मेहता जैसे बड़े लेखक का वह प्रशंसापूर्ण लेख हिन्दी जगत काफ़ी सराहा जा रहा था, दूसरे क्योंकि एक बड़ी लेखिका की तरफ़ से अपने एक बड़े लेखक मित्र को अपनी प्रशंसा के लिये वकील का नोटिस। अप्रत्याशित ! याद नहीं मामला कैसे सुलटा था। शायद नरेश जी ने सार्वजनिक क्षमा प्रार्थना या खेद-प्रकाश कर लिया होगा। कृष्णा सोबती से उनकी आपत्ति का कारण पूछा गया तो हँस कर उन्होंने कुछ इस आशय की बात कही थी, यह शीर्षक। शीर्षक बड़ा सन्दिग्ध है।

आज तक भी मुझे न केवल हिन्दीभाषी साहित्यिक समाज की बल्कि सामान्यतः सारी दुनिया की ही तथाकथित 'स्वाधीनचेता', 'स्वच्छन्द' स्त्रियाँ इस दुविधा की शिकार प्रतीत होती हैं। अपने मनोभाव की स्वच्छन्दता की हदें वे जानती हैं क्योंकि वे उनकी स्वयं की निर्धारित की हुई होती हैं लेकिन दूसरे को प्रायः अन्दाज़ा नहीं होता कि वह हद कहाँ आ गयी और कब पार हो रही है क्योंकि उसका अनुमान प्रायः उसकी परिचित सामान्य जगत्गति पर आधारित होता है जबकि जगत्गति अपरिचित हो उठी है। मुझे याद है कि कृष्णा सोबती को साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला था तो मनोहर श्याम

जोशी ने मुझसे साप्ताहिक हिन्दुस्तान के लिये कृष्णा सोबती पर एक 'ललित निबन्ध' लिखने को कहा था और उनकी 'ललित' अपेक्षा के बारे में स्पष्टीकरण माँगने पर कहा था कि जिसमें दूर दूर तक कोई आपत्तिजनक बात खोजी न जा सके क्योंकि हमारी प्रिय मित्र हैं लेकिन ज़रा तुनुक मिजाज़ हैं, किस बात पर नोटिस भेज दें, पता नहीं !

स्वछन्द स्त्री अपनी सारी स्वच्छन्दता के बावजूद शायद इस बात को लेकर अक्सर आशंकित और सन्दिग्ध-चित्त रहा करती हे कि उसके बारे में क्या सोचा समझा जा रहा है। 'सेन्स ऑफ़ ह्यूमर' इस सिलसिले में अक्सर खेत रही पाई जाती है !

स्वच्छन्द ! स्वेच्छा का छन्द ! पुरानी बात कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू : बार बार नयी होती पाई जाती है, कवि और मनीषी की अपेक्षा स्वेच्छा और स्वच्छंद के विषय में और भी अधिक। कृष्णा सोबती को भी जीवन में सार्थकता के सर्जन और अर्जन की एक एक बूँद अपनी रचना से ही उगाहनी थी। पुनः एक बहुत पुरानी लेकिन बार बार नयी होती बात के उस 'ऊर्णनाभ' या मकड़े की तरह जो अपनी नाभि के रसतन्तुओं से अपने जीवन और जगत का जाला स्वयं बुन कर अपने चारो ओर फैलाता है। वही जानता है वहाँ के कायदे कानून और आचरण संहिता क्योंकि वही खुद उनका रचयिता है।

अपनी रचना के साथ उनका अनूठा रिश्ता तब देखने में आया जब उनके उपन्यास ज़िन्दग़ीनामा के छपने और स्थापित हो जाने के बाद अमृता प्रीतम का एक उपन्यास 'हरदत्त का जिन्दगीनामा' छपा और उसके नाम के शब्द 'ज़िन्दगीनामा' पर अपने कॉपीराइट को लेकर कृष्णा जी ने अमृता प्रीतम पर दावा ठोक दिया और बहस अदालत तक जा पहुंची । अपनी किताब के नाम के कॉपीराइट को लेकर कष्णा सोबती खुद जितनी गंभीर थीं उतना हिन्दी जगत में दूसरे किसी का होना संभव नहीं था। पता नहीं एक ही नाम कितनी अनेक दूसरी किताबें मौजूद हैं।

इस सिलसिले में कुछ सामान्य जानकारियाँ यूँ हैं, कि कॉपीराइट नियम की हद में किताब का नाम नहीं आता क्योंकि इण्टेलेक्चुअल प्रॉपर्टी किताब की वस्तु सामग्री होती है, किताब का शीर्षक नहीं किताब का शीर्षक 'लोगो' अथवा 'स्लोगन' कोटि की चीज़ है, पब्लिक डोमेन में उपलब्ध; और कॉपी राइट से मुक्त है। खोज खाज कर नज़ीर की तरह अमरीकी कॉपीराइट ऐक्ट में एक अपवादस्वरूप स्थिति मिली कि अगर किसी किताब का शीर्षक ट्रेडमार्क की जगह ले ले तो उसके लिये कॉपीराइट का मामला बन सकता है। इस बात को समझने के लिये उदाहरण की तरह हैरी पॉटर का नाम लिया जा सकता है। जे.के. राउलिंग द्वारा रचित चरित्र हैरी पॉटर अब ऐसी जगह पा चुका है कि अपने शीर्षक में हैरी पॉटर का नाम शामिल करने वाली किसी भी किताब के जे.के.राउलिंग द्वारा रचित होने का भ्रम पैदा हो सकता है। एक तरफ़ यह संभावित पाठक के साथ धोखाधड़ी का मामला होगा और दूसरी तरफ़ स्तरहीन किताब द्वारा जे.के. राउलिंग की प्रतिष्ठा की हानि का।

यह केवल उदाहरणार्थ व्याख्या है, हैरी पॉटर तब तक हमारी दुनिया का हिस्सा नहीं था। किताब के लिये कॉपीराइट की अपेक्षा ट्रेडमार्क पाना बहुत कठिन, विरल और अपवादस्वरूप है, लेकिन ट्रेडमार्क के अन्तर्गत पंजीकृत किताब के नाम का कॉपीराउट सुरक्षित है, उसके अनुसार 'डुप्लीकेशन' के कारण उलझाव पैदा हो सकता है और किसी का ट्रेडमार्क डाइल्यूट हो सकता है।

अदालत में अपने पक्ष के गवाहों की सूची में उन्होंने मेरी इतिहासकार मित्र प्रभा दीक्षित का नाम भी शामिल किया था। उन्हीं दिनों कभी 'आलोचना' त्रैमासिक में 'ज़िन्दग़ीनामा' पर मेरी समीक्षा छपी थी जिसे उन्होंने किताब की उत्कृष्टता के प्रमाण की तरह अदालत मे दाखिल किया था और उन काग़ज़ात को 'नोटराइज़' कराने के सिलसिले में मैने एक पूरी दोपहर उनके साथ कचहरी में बिताई थी। प्रभा दो तारीखों पर अदालत गयीं भी, एक बार कृष्णा जी को अपने साथ लिफ़्ट देकर, दूसरी बार उनके कहने पर उनके बिना भी क्योंकि उस दिन अदालत में उनका कोई काम नहीं था और वे कहीं अन्यत्र व्यस्त थीं। दोनो में से एक बार भी पेशी नहीं हुई।

दो लेखिकाओं की इस भिड़न्त में हिन्दी जगत अपनी अपनी मैत्री के हिसाब से बँट गया था । अमृता प्रीतम बहुत लोकप्रिय लेखिका थीं, उन दिनों वे राज्य-सभा की सदस्य थीं, इसलिये भी मशहूर बहुत थीं। न्यायाधीश महोदय उनके नाम से परिचित भी थे, जब कि न तो कृष्णा सोबती का और न ज़िन्दग़ीनामा का ही, नाम भी उन्होंने सुना था। पॉप बनाम साहित्य का मामला था। तो किसी स्तर पर कृष्णा सोबती के लिये यह हिन्दी तथा साहित्य की पहचान और सम्मान की लड़ाई भी बन गया था। कृष्णा सोबती के उपन्यास को साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला था, चारो तरफ़ उसकी चर्चा थी, अपने जैसी पहली किताब थी, ढेरों समीक्षाएँ और प्रशंसाएँ छाई हुई थीं। उनके मन में शायद अपनी 'ज़िन्दग़ीनामा' की

जगह 'ट्रेडमार्क' वाली रही होगी। यह ख़याल तो उनका था ही कि 'ज़िन्दग़ीनामा' उनका अपना गढ़ा हुआ शब्द है।

अमृता प्रीतम के उपन्यास के मुखपृष्ठ पर हरदत्त बहुत छोटे फॉण्ट में और ज़िन्दग़ीनामा बहुत बड़ा बड़ा छपा था, पहली नज़र में ज़िन्दग़ीनामा ही पढ़ा जाता था। उसे शायद ज़िन्दग़ीनामा के नाम से विज्ञापित भी किया गया था। लेकिन किताब का उत्पादन और विज्ञापन जैसे काम प्रकाशक की कारगुजारी होते हैं, पता नहीं अमृता प्रीतम को उसका जिम्मेदार बनाया जा सकता था या नहीं।

कृष्णा सोबती की तरफ़ से मुकद्मे का आधार और कारण यह था कि अमृता प्रीतम अपनी किताब का नाम 'हरदत्त का ज़िन्दग़ीनामा' रखकर मार्केटिंग में कृष्णा सोबती की 'ज़िन्दग़ीनामा' की शोहरत और उत्कृष्टता का लाभ लेना चाहती थीं और इससे कृष्णा सोबती की 'ज़िन्दग़ीनामा' को और स्वयं उनकी प्रतिष्ठा को संभावित हानि भी हो सकती थी।

कृष्णा सोबती के पक्ष से दिये गये तर्कों में कोई खास वज़न पाया नहीं गया। 'नामा' साहित्य बड़ी मात्रा में मौजूद है। बाबरनामा और अकबरनामा तो है ही, खुद 'ज़िन्दग़ीनामा' भी मौजूद है। गुरु गोविन्द सिंह के एक प्रिय भक्त भाई नन्द लाल जी द्वारा फ़ारसी में लिखित तीन सौ साल पुरानी ज़िन्दग़ीनामा शीर्षक एक किताब उपलब्ध है। उसमें सिख गुरुओं के जीवन-वृत्तान्त लिखे गये हैं। उन्होंने स्वयं उसका नाम बन्दग़ीनामा रखा था और उसे गुरु गोबिन्द सिंह को समर्पित किया था। गुरु गोबिन्द सिंह नें स्वयं उसका शीर्षक बदल कर ज़िन्दग़ीनामा कर दिया था और पुस्तक पढ़ने वाले को आध्यात्मिक प्रकाश की पुण्य-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया था। किताब का अनुवाद पंजाबी में भी किया गया है।

कई साल मुकद्मा चला, फिर खारिज कर दिया गया। फिर उन्होंने अपेक्स कोर्ट के लिये अपील दायर कर दी। बड़े बड़े वकीलों की फ़ीस का, अपील का खर्चा। उन्होंने मॉलरोड का अपना फ़्लैट बेच दिया।

उस दौरान कभी उस सारी कार्रवाई और उसमें अपनी भागीदारी की परेशानियों से बेचैन मेरी सहकर्मी और मित्र प्रभा दीक्षित और उनके साथ मैं भी एक पूरी शाम उन्हें मुतमइन करने की कोशिश करते रहे थे कि एक सृजनशील व्यक्ति के लिये इस किस्म का कचहरी मुकदमा समय को व्यर्थ विनष्ट करना है। और एक सृजनशील व्यक्ति अगर खुद को ऐसी चिन्ताओं के ऊपर और परे नहीं उठा सकता तो और कौन करेगा? तर्क वितर्क देर तक चलता रहा।

बाकी सारे तर्क तो आज इतने वर्ष बाद मुझे याद नहीं, कृष्णा जी का एक वाक्य याद है जो उन्होंने अपनी तरफ से शायद अन्तिम बात की तरह कहा था और शायद उसके बाद की बात चलती रहने के बावजूद सुननी बन्द भी कर दी हो। उन्होंने कहा था, आइ ओ दिस टु माई बुक।' यानी मेरे ऊपर यह मेरी किताब का कर्जा है।

कृति के साथ कृतिकार के इस रिश्ते ने मुझे काफी विस्मित और चमत्कृत किया था। अपनी किताब का कर्ज़ा महसूस करने वाली अपनी जैसी अकेली और विलक्षण !

फिर अपील दाखिल नहीं हुई, खारिज कर दी गयी। कृष्णा सोबती को आर्थिक दृष्टि से लगभग खोखला छोड़ते हुए। लेकिन उसके बाद मुकद्दमे और उसके नतीजे की जब भी चर्चा हुई, कृष्णा सोबती को कभी क्रुद्ध या विषण्ण या उदासीन नहीं पाया गया। उन्होंने सदा हँसते हुए ही बताया कि यह हिन्दी और लेखक की आइडेण्टिटी का मामला था और अपनी सामर्थ्य भर उसकी लड़ाई उन्होंने लड़ी।

उबर सकने की जिस सर्जनात्मक शक्ति की बात लड़ाई के दौरान प्रभा ने उनसे कही थी, उसका इस्तेमाल उन्होंने शायद अपील के खारिज हो जाने के बाद किया था।

और अपनी किताब का कर्ज़ा उन्हौंने चुका दिया था। अपने उस स्वच्छन्द को अन्त तक जीने वाली अनोखी को नमन !

एक प्रखर आलोक का पर्याय कृष्णा सोबती

मनीषा कुलश्रेष्ठ

कृष्णा सोबती जी से मैं पहली बार मिली थी, कृष्ण बलदेव वैद जी के अस्सीवें जन्मदिन पर। एक भव्य और मजबूत उपस्थिति लिए, नीले कुर्ते और ग़रारे में अपनी ओढ़नी को प्यारे ढंग से ओढ़े, टिंटेड ग्लासेज़ लगाए जब वे हॉल में आईं, सब स्वागत को तत्पर हो गए। मेरा हैरानी से मुख खुला था, मित्रो मरजानी, दिलोदानिश, ज़िंदगीनामा, डार से बिछुड़ी जैसी महान कृतियों की कृतिकारष्ठ..मेरे समक्ष थीं।

'डार से बिछुड़ी' पर तो मैंने एम.फिल. में कॉलेज में एक पेपर प्रस्तुत किया था। तभी से मैं पाशो के चरित्र से चमत्कृत थी। बीते समय और माहौल को जीवंत करती वह कृति मेरा कृष्णा सोबती से पहला जुड़ाव थी। उसके बाद तो मैंने उनका सारा साहित्य घोंट कर पढ़ डाला था। उसके बाद पत्रिकाओं में उनके सशक्त इंटरव्यू पढ़ रखे थे। किंतु उस अवसर पर उन्हें साक्षात देख मैं इतनी प्रभावित हुई कि उनके पास जाने से सकुचा ही गई। उस समारोह में 'कृष्ण बलदेव फैलोशिप' मिलने की घोषणा हुई थी। जलपान के समय उनसे कृष्ण बलदेव वैद जी ने मेरा परिचय करवाया। साहित्य जगत के ये बड़े चेहरे और मैं नवांकुर,घना संकोच मेरे चेहरे पर पुता था। उन्होंने मुस्कुरा कर कहा था -

'लिखने को तो ज़िंदगी पड़ी है, पहले इसमें रम तो लो। कुछ ले नहीं रहीष्ठ. ?'कह कर उन्होंने मुझे कंधो पर छुआ और एक छोटी भीड़ के साथ आगे बढ़ गईं।

यह उनके जिये का ही आलोक था, जो मुझे थोड़ा-सा थमा गईं थीं।

यकीनन उनके जीने का अंदाज़ ही निराला था, सोफेस्टिकेशन जीने में मगर लिखने में प्रतिरोध का सबसे ताक़तवर शब्द उन्हीं का। उनकी एरिस्टोक्रेटिक ठसक और ज़मीनी चिंताएं दोनों निख़ालिस थे। कोई कृत्रिमता नहीं। उनका दख़ल साहित्य जगत में समस्त ऊर्जा के साथ अंतिम सांस तक रहा। उन्होंने भरपूर जिया, प्रेम किया, लिखा और सबका प्यार पाया।

लेखन तो अप्रतिम...अद्वितीय था ही,मित्रो मरजानी, डार से बिछुड़ी,ज़िंदगीनामा, दिलोदानिश, सूरजमुखी अंधेरे, ए लड़की, समय सरगम, हर उपन्यास मैं वे किसी अनूठी दुनिया की जीवट नायिकाएं लाकर चौंका जातीं थीं, हिंदी के पाठक को और पाठक उनके प्यार में पड़े बिन रह न पाता चाहे वे समाज के नैतिक मापदंडों को अंगूठा क्यों न दिखाती हों। वे आन्ना से कहीं आगे की विद्रोहिणियां और आखिरी सांस तक जीने वाली नायिकाएं थी।

उनका ड्रेसिंग मुझे बहुत प्रिय था, क्योंकि वह भी चौखटें तोड़ता था। ग़रारे, कुर्तियां, ओढ़नियां, टोपियाँ, चश्मे। मुझे अफसोस है कि दिल्ली रहते हुए भी मैं उनके घर एक ही बार जा सकी, वह भी बाहर से आए एक मित्र के आग्रह पर।

घर का बड़ा कलात्मक डेकोर। नफ़ीस क्रॉकरी में बढ़िया चायष्ठ..सौम्य बातें। बूढ़ों की तरह कोई नसीहतें नहींष्ठ.न कोई आत्मगौरवष्ठसहज दोस्ताना बातें फिर मुझे चकित कर रही थीं। उनकी लगातार सक्रियता और साहित्यिक – राजनैतिक मसलों पर ज़िंदा दखल अनुकरणीय रहा है।

उनके लिए विदा के लिए लिखी टिप्पणियों – लेखों में लोग बार – बार दो बातें दोहरा रहे हैं। जबकि दोनों बातों का कृष्णा सोबती जी दमदारी से विरोध करती रही थीं। 'स्त्री-लेखन' और 'बोल्ड लेखन'

कौन न मानेगा कि वे अपने जेंडर से परे हिंदी कथा साहित्य की पुरोधा थीं। न कि केवल स्त्री लेखन की अग्रणी लेखिका। वे निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद से कहीं कमतर नहीं थीं। हमें उनके खुद के कहे शब्दों का सम्मान करना चाहिए।

'I don't believe in 'women's literature'. Theorists might analyse texts in this narrow way, but, to me, great texts combine both masculine and feminine elements.' Krishna Sobati

(मैं स्त्री-साहित्य में विश्वास नहीं रखती। भले ही लिखे हुए को बौद्धिक विश्लेषक इस संकीर्ण ढंग से विश्लेषित करें लेकिन मेरे लिए एक बेहतरीन गद्य वही है जिसमें पुरुषोचित और स्त्रियोचित दोनों तत्व हों।)

बोल्डनेस पर वे कहती थीं – 'भाषिक रचनात्मकता तो

हम मात्र 'बोल्ड' के दृष्टिकोण से देखेंगे तो लेखक और भाषा दोनों के साथ अन्याय करेंगे. भाषा लेखक के बाहर और 'अंदर' को एकसम करती है. उसकी अंतर दृष्टि और समाज के शोर को एक लय में गूंथती है. उसका ताना-बाना मात्र शब्द कोशी भाषा के बल पर ही नहीं होता'

- कृष्णा सोबती

अपने नज़रिये में प्रखर और हिंदी जगत के 'पैट्रिआर्कल' और शुचितावादी रवैय्ये पर ' नो नॉनसेंस' रुख रखने वाली कृष्णा सोबती जी आज हर किसी की आदर्श हैं। उनका लिखा हुआ एक बड़ी रेखा है, जो हम सब बाद के लिखने वालों के लिए चुनौती है, चाहे वे स्त्री हों कि पुरुष। उनकी नायिकाएं अपनी देह और उसके 'कोंटूर्स' को लेकर, अपनी इच्छाओं और प्रेम को लेकर सशंकित और संकुचित कभी नहीं थीं। वे विमर्श से परे धधकते हुए सवाल सामने रखती थीं। किस्सागोई में उनका कौन सानी? चाहे ग्रामीण पंजाब से आई उनकी नायिकाएं हों, या शहरी एलीट संसार की स्त्रियां होंष्ठ.. उनके पास अनूठी भाषा थी। ऐसी भाषिक-सृष्टि जिसमें स्त्रियां उन्मुक्त विचर सकें। बोलियाँ हों कि शहरातू भाषाष्ठष्ठपरंपरा और आधुनिकता के मुहाने जोड़ते उनके अपने मुहावरे थे। बेजा विवरणात्मकता से परे वे कम शब्दों में ज़्यादा परतदार लिखती थी। कोई भूमिका नहीं, कोई एक्सप्लेनेशन नहींष्ठष्ठ.. ज़िंदा, सीधे घटती गाथाएँ। उन्हीं के बीच चरित्र स्वयं को प्रस्तुत कर देता था बिन प्रस्तावना। यही वजह है कि उनकी परंपरा में तथाकथित ढंग से कोई फिट नहीं हो पाया। आगे कोई होगा इसकी संभावना नहीं। वे दिगान्त पर खिलीं इकलौता सूर्य थीं। उनका महागमन हिंदी जगत से जुड़े। हर व्यक्ति के अंतस में निर्वात छोड़ गया है।

मेरा तो यही कहना है, ' कृष्णा जी, वहां भी ईश्वर होता हो तो, उसके संग बढ़िया सिल्क के ब्लू शरारे में, नाज़ुक चायना के खूबसूरत टी पॉट में महकती चाय पीजिएगा, गलबंहियां डाल ठहाके लगाइएगा। अगरचे पूछ बैठे वह कि - 'आपने भी किसी एक से प्रेम किया होगा।'

तो अपना वही चिरपरिचित जवाब दीजिएगा

' एक! इतने बुरे दिन मेरे कभी नहीं रहे।'

अश्रुपूरित श्रृद्धांजलियां आपके मिजाज़ को सूट नहीं करतीं। पाथेय बन साथ चलेंगी आपकी किताबें। फिर मिलेंगे....मिलते रहेंगे शब्दों में।

नामवर सिंहः एक दौर की विदाई

संजीव कुमार

लगभग 93 साल की अवस्था में नामवर सिंह की इस दुनिया से विदाई एक युग के अवसान की तरह है। उनका विशद अंतर-आनुशासनिक ज्ञान, नवाचार को समझने-सराहने की उनकी क्षमता, और उनकी आलोचना का लालित्य हिन्दी में अतुलनीय रहा है।आलोचना को सामान्यतः एक नीरस अकादमिक काम माना जाता है और आलोचकों को रचनाकारों की तरह बड़ी संख्या में प्रशंसक पाठक नसीब नहीं होते। नामवर सिंह इसके विराटअपवाद थे। इतनी अधिक चर्चाओं में रहने वाला व्यक्तित्व हिन्दी की दुनिया में पिछले पचास सालों शायद ही कोई हुआ हो!

'छायावाद', 'इतिहास और आलोचना', 'कहानी नयी कहानी', 'कविता के नए प्रतिमान', 'दूसरी परम्परा की खोज', 'वाद विवाद संवाद', 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान', 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' जैसी पुस्तकों के अलावा आशीष त्रिपाठी के सम्पादन में निकले लेखों और व्याख्यानों के आठ संग्रह—नामवर सिंह की यह प्रकाशित सामग्री किसी भी तरह से 'प्रभूत' नहीं कही जा सकती। इसके बावजूद वे हिन्दी के शीर्ष आलोचक माने गए तो उसका कारण बहसों में उनके निर्णायक हस्तक्षेप, समकालीन रचनाशीलता के साथ उनका निरंतर जुड़ाव तथा दृष्टि और जानकारी के स्तर पर अपने को अद्यतन बनाए रखने की अनोखी बेचैनी थी।एक साक्षात्कार में उन्होंने सही कहा था कि 'आप कम लिखने का आरोप मुझ पर भले ही लगा लें, यह आरोप नहीं लगा सकते कि मैंने पढ़ने में कोई कोताही की है।'जेएनयू और साहित्य अकादमी के पुस्तकालयों में नियमित जानेवाले पुस्तक-प्रेमी जानते हैं कि लम्बे अरसे तक, वहाँ आयी हुई साहित्य और

समाजविज्ञान की नयी-से-नयी किताबें सबसे पहले नामवर सिंह के अध्ययन-कक्ष में पहुँचती थीं।

इस पढ़ाई के साक्ष्य उनकी आलोचना में मौजूद हैं। उनके लेखों में आयी हुई कई बातों को प्रकाशन-काल से जोड़कर पढ़ें तो एकबारगी ऐसा लगता है कि प्रकाशन का वर्ष बताने में कहीं चूक हो गई है। 70 के दशक में आलोचना की भाषा पर बात करते हुए नामवर सिंह लिख रहे थेः 'अब पहले की तरह भाषा को प्रदत्त मानकर अभिव्यक्ति के लिए इस्तेमाल करना कठिन हो चला है, क्योंकि हम देख रहे हैं कि वह सम्प्रेषण से पहले संवेदन का माध्यम है, और इस प्रकार वह हमारे संवेदन का नियमन करती है। जिसे हम अपना अनुभव और अपना अन्वेषण समझते हैं, उसमें कितना अपना है और कितना सार्वजनिक भाषा का, इसका बोध किसी भी संवेदनशील व्यक्ति की नींद खो देने के लिए काफी है।' वास्तविकता के साथ हमारे रिश्ते में भाषा की ऐसी मध्यस्थता को उस दौर में किसी और हिन्दी लेखक ने इस तरह समझा और कहा हो, याद नहीं आता।

इसी तरह उत्तर-आधुनिकता का, उसके सटीक लक्षणों के साथ, उल्लेख सन 60-61 के आस-पास नामवर जी के अलावा किसी और ने किया हो तो मुझे पता नहीं। उसी वर्ष 'नयी कहानियां' में उनका लेख छपा था, 'फिर क्या हुआ? और मुक्तिमार्ग'। उसमें ई एम फ़ॉस्टर की प्लाट (कथानक) और स्टोरी (कथा) की धारणा से असहमत होते हुए नामवर जी ने लिखा, 'हो सकता है, जिसे 'आधुनिक' कहानी कहा जाता है, उसमें कारण का उल्लेख अवश्य रहता हो लेकिन आधुनिकोत्तर युग की कहानी में कारण प्रायः अनुल्लिखित रहता है या अधिक-से-अधिक उसकी ओर संकेत भर कर दिया जाता है।'इसके बाद उन्होंने कारण-कार्य-सम्बन्ध पर आधारित प्लाट की धारणा को आधुनिकता, विज्ञान और बुद्धिवादी आन्दोलन से जोड़ा और उसकी कई देनों को स्वीकार करते हुए भी यह रेखांकित किया कि 'इस कारणवादी आरोप की भी अपनी रूढ़ियाँ बन गयीं' और 'कहानी में पुनः आधुनिक युग की कारणता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई'।

ये बातें मैं सिर्फ यह बताने के लिए उद्धृत कर रहा हूँ कि नामवर सिंह वैश्विक विचार-जगत के अधुनातन उद्विकासों पर नज़र रखते थे और अपनी आलोचना-दृष्टि के परिष्कार में उनका उपयोग करने से नहीं चूकते थे। इसीलिए उनके यहाँ मार्क्सवादी आलोचना स्थूल समाजशास्त्रीयता से बाहर निकल पाई, जिसे बहुतों ने उनके ग़ैर-मार्क्सवादी होने का प्रमाण माना।'कविता के नए प्रतिमान' (1969) में जब उन्होंने मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' का भाष्य किया और उसमें परम अभिव्यक्ति की खोज करनेवाले काव्य-नायक को आत्म-निर्वासन का शिकार बताया, तो लोगों ने आरोप लगाया कि वे अस्तित्ववादी दृष्टि और शब्दावली का उपयोग कर रहे हैं। किताब के दूसरे संस्करण में उन आरोपों का जो जवाब नामवर जी ने दिया, वह पढ़ने लायक है। हिन्दी के जिन मार्क्सवादियों का '1844 की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियाँ' वाले मार्क्स से बिलकुल परिचय नहीं था, उन्हें नामवर जी बताते हैं कि एलिएनेशन और सेल्फ-एलिएनेशन के क्या मायने हैं और कैसे यह पूंजीवादी तंत्र सिर्फ़ आर्थिक शोषण नहीं करता, अमानवीकृत भी करता है। मनुष्य का अपनी कृतियों से अलगाव, अपनी जीवन-क्रिया के रूप में श्रम से अलगाव और अंततः अपने-आपसे अलगाव मार्क्स की प्रमुख चिंताओं में से है।उसी लेख में रूपवाद के आरोपों के जवाब में उन्होंने पश्चिम के मार्क्सवादी विचारकों के हवाले से साहित्य की 'सापेक्षिक स्वायत्तता'(रिलेटिव ऑटोनोमी) की बात की। ऐसी अवधारणाओं से पहला परिचय करानेवाले नामवर जी ने मुझ जैसे अनेक पाठकों को आश्वस्त किया कि मार्क्सवादी आलोचना के नाम पर जो स्थूल प्रवचन हम पढ़ते रहे हैं, उन्हें ही प्रामाणिक मार्क्सवादी मान लेने का कोई कारण नहीं है।

कोई आश्चर्य नहीं कि 'इतिहास और आलोचना' के लेखों से इतर उनके लेखन को 'मार्क्सवादी' आलोचना का उदाहरण मानने से बहुतों को समस्या रही है—उन्हें भी जो मार्क्सवाद को नामवर सिंह से बचाना चाहते हैं और उन्हें भी जो नामवर सिंह को मार्क्सवाद से बचाना चाहते हैं। दोनों तरफ़ की यह कोशिश इस लिहाज़ से ख़ासी लचर है कि इसमें एक रूढ़/पूर्व-निर्धारित मार्क्सवादी साहित्य-दृष्टि की मान्यता निहित है, जबकि मार्क्सवाद के दार्शनिक और समाजार्थिक दृष्टिकोण की रोशनी में, और कई बार उसकी दूरस्थ ऊष्मा में,साहित्य को पढ़ने-सराहने की पद्धति लगातार विकसित हो रही है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि नामवर सिंह के पूरे आलोचना-साहित्य में—इसमें उनके व्याख्यान भी शामिल हैं—सुसंगति का अभाव है, उनकी बातें कई बार आपस में ही कटती-पिटती रहती हैं, लेकिन यह अपने को लगातार मांजने की ललक के साथ आनेवाला अनिवार्य दोष है। जो लोग बहुत

सुसंगत होते हैं, उनके यहाँ विचार और विचारधारा की, और उसके भी किसी एक भाष्य/संस्करण की, ज़बरदस्त किलेबंदी होती है जहां बाहर का कोई परिंदा भी पर नहीं मार सकता। सुसंगति का अभाव—अगर वह छोटी-छोटी इकाइयों के भीतर न होकर सम्पूर्ण लेखन को दृष्टि की परिधि में लाने पर दिखता हो तो—कम-से-कम सही की पहचान के लिए आवश्यक खुलेपन का सबूत होने के कारण सकारात्मक है। अब इस विचित्र द्वंद्वात्मकता का क्या करें कि यह खुलापन सही की पहचान के लिए आवश्यक होने के साथ-साथ मौक़ापरस्ती के लिए भी आवश्यक है! वैसे इसमें विचित्र कुछ भी नहीं। द्वंद्वात्मकता कहाँ नहीं है! 'कम्युनिस्ट मनिफेस्टो' के उस अंश को याद करें जहां पूंजीवाद के साथ आनेवाले आमूल बदलावों की चर्चा में उसकी बुराई और बड़ाई इस तरह साथ-साथ दिखती है जैसे एक ही रेखांकन में दो तस्वीरें हों जिन्हें कोण बदल-बदल कर देखा जा सकता हो।

आलोचक के अलावा शिक्षक और सम्पादक की भूमिका में भी नामवर सिंह अविस्मरणीय हैं। लम्बे अरसे तक 'आलोचना' का सम्पादन करते हुए उन्होंने इसे हिन्दी की केन्द्रीय वैचारिक पत्रिका बनाए रखा। हिन्दी की बहसों के नियमन-निर्धारण में 'आलोचना' का जैसा योगदान रहा है, कम-से-कम पिछले सदी में, उसकी तुलना बहुत कम दूसरी पत्रिकाओं से की जा सकती है। वह हिन्दी की दुनिया को विश्व के दूसरे हिस्सों में चल रही बहसों और वैचारिक आलोड़नों से परिचित कराने वाली पत्रिका भी रही है।

हिन्दी विभागाध्यक्ष के तौर पर 1974 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में प्रवेश के बाद से नामवर जी ने अच्छे अध्येताओं की कई पीढ़ियाँ तैयार कीं। उनका बनाया हुआ विभाग और पाठ्यक्रम एक मानक रहा है, भले ही देश के अन्य विश्वविद्यालयों ने उस मानक की ज़्यादा परवाह न की हो। उससे पहले जोधपुर विश्वविद्यालय में राही मासूम रज़ा के सद्यःप्रकाशित उपन्यास 'आधा गाँव' को पाठ्यक्रम में लगाने के कारण उन्हें पोंगापंथियों का घोर विरोध सहना पड़ा था और अंततः नौकरी हाथ से जाती रही थी। कम्युनिस्ट होने के कारण बीएचयू और सागर विश्वविद्यालय की नौकरियों से भी उन्हें हाथ धोना पड़ा था।

जेएनयू की स्थायी नौकरी से पहले का उनका संघर्ष संभवतः एक सबक की तरह हमेशा उनके साथ रहा और बाद के नामवर को उसने उसूलों के मामले में बहुत अचल-अटल नहीं रहने दिया। शक्तिशाली पदों पर रहने और बने रहने की कमज़ोरी के भी वे शिकार हुए, जिसने हिन्दी की ऐसी प्रखर मेधा को वह सब दे पाने से रोका जो दे पाने की उनमें क्षमता थी।

फिर भी नामवर जितना कुछ दे पाए, वह कोई औसत क्षमता वाला व्यक्ति एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा कर भी नहीं दे सकता। वे हिन्दी के सबसे अधिक पठनीय आलोचक 'हैं' और इसी रूप में वे अपने लेखन हमेशा मौजूद रहेंगे; वे हिन्दी के सबसे अधिक श्रवणीय आलोचक 'थे' और अब इस रूप में उन्हें पाने के सुखसे हम हमेशा के लिए वंचित हो गए हैं। यों यह वंचना पांचेक साल पहले ही शुरू होगई थे, क्योंकि नामवर जी का बोलना कम हो गया था। स्मृति भी धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी।उन्हें व्याख्यानों में कई बार एक ही बात को दुहराते, अपनी कही बात को भूलते और किसी चीज़ को याद करने के लिए जूझते देखना बहुत कष्टकर था। उस समय भी मुझे अस्सी और नब्बे के दशक के नामवर याद आते थे, आगे भी वही याद आयेंगे।

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के देशबंधु कॉलेज में प्राध्यापक, हिन्दी के आलोचक और 'आलोचना' पत्रिका के सम्पादक हैं।)

समय को पढ़नेवाली नजर और इतिहास को गढ़नेवाली कलम

विद्याभूषण

हिन्दी संसार में पिछले कई दिनों से सुनामी का कहर जारी है। 19 फरवरी की आधी रात को नामवर सिंह का देहावसान हुआ । एम्स के गलियारे से निकल कर जब यह खबर बाहर आयी तो सोशल मीडिया और मीडिया पर शोक संदेशों की लहर चलने लगी। भारतीय समाज और साहित्य को उनके योगदान के महाकोश के पन्ने पलटे जाने लगे। सच है कि काल के संग्रहालय में ऐसी प्रतिभाएं दुर्लभ होती हैं जिनकी उपस्थिति को समाज अपनी धरोहर का मान देता हो। लेकिन इससे यह अनुमान गलत होगा कि वे अजातशत्रु थे। सागर (मध्य प्रदेश) और जोधपुर (राजस्थान) विश्वविद्यालय में उन्हें तगड़े विरोध से निबटना पड़ा था। सच तो यह है कि शुरुआती छत्तीस-सैंतीस सालों की उम्र तक उन्हें कड़ा संघर्ष करना पड़ा था, फिर धीरे-धीरे स्थितियां अनुकूल होती गयीं। घर-परिवार की चिन्ताओं से लगभग मुक्त रह कर वे अपनी किताबी दुनिया में हमेशा एकाग्र बने रहे तो इसीलिए कि उन्हें काशीनाथ जैसे अनुज की लगातार मदद मिलती रही थी। नामवर जी के लिए इस सहभागिता का अर्थ और दायरा क्रमशः फैलता-पसरता गया। बहुमुखी ज्ञान को समर्पित उनकी अहंकारमुक्त विनम्रता आजीवन उनकी सहयात्री बनी रही।

नामवर सिंह के निधन पर अपने पहले वक्तव्य में ओम थानवी में कहा कि हिन्दी में सन्नाटे की खबर है। फरवरी में खत्म हो रहे एक साल की अवधि को याद करें तो हिन्दी के कई बड़े लेखकों को अलविदा यानी आखिरी जोहार कहना पड़ा है। केदारनाथ सिंह, विष्णु खरे, राजकिशोर और कृष्णा सोबती की बिदाई का दुख ताजा है। और अब आलोचना के शिखर पुरुष नामवर सिंह। यह सन्नाटा इसलिए भी ज्यादा जगह घेरता है कि इससे नामवर की निजी उपलब्धियों का लेखाजोखा भर नहीं जुड़ा है, बल्कि यह एहसास भी जुड़ा है कि पिछले सात दशकों तक फैले अपने सक्रिय जीवन में उन्होंने कई पीढ़ियों के तेजतर्रार कलमकारों को तैयार किया और देश में विवेकसम्मत विचारों का माहौल बनाने में महत्वपूर्ण साझेदारी निभाई थी। कहना चाहिए कि यह किसी एक व्यक्ति का गणित नहीं, एक संस्था का मूल्यांकन है। यहां यह भी ध्यान में आता है कि उन्होंने सिर्फ साहित्य के विविध रूपों के लिए नये प्रतिमानों की प्रस्तावना नहीं लिखी, उसके समान्तर कला, संस्कृति, धर्म, दर्शन, राजनीति और लोकतंत्रीय समाज के बुनियादी सवालों को भी अपने अध्ययन-मनन-लेखन के केन्द्रीय वृत्त में जगह दी। साप्ताहिक 'जनयुग' और त्रैमासिक 'आलोचना' का सम्पादन भी किया।

उनके कार्यवृत्त पर एक नजर डालें तो वहां भी आपको विवाद और संवाद के कई ऐतिहासिक अवसर मिल जायेंगे। 'कविता के नये प्रतिमान' में एक तरफ उन्होंने डॉ. नगेन्द्र की रसशास्त्रीय समीक्षा पद्धति के वर्चस्व की खोज खबर ली और नयी कविता के पक्ष में मजबूती के साथ खड़े हुए तो दूसरी तरफ इलाहाबाद के 'परिमल' ग्रुप के साथ कलावादी शब्दशिल्पी अज्ञेय के यश कलश की स्थापना का निषेध करते हुए गजानन माधव मुक्तिबोध को सामयिक कविता के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया। लेकिन नामवर सिंह की गतिशील वैचारिकता की कई दूसरी मिसालें बताती हैं कि वे जड़ बौद्धिकता के पक्षधर हरगिज नहीं रहे। कालान्तर में उन्होंने 'छायावाद' और 'कविता के नये प्रतिमान' की अपनी दो स्थापनाओं में संशोधन किया था। अगर 'नामवर की धरती' पुस्तक के लेखक श्रीप्रकाश शुक्ल के कथनों पर विश्वास किया जाये तो सन 2007 में महादेवी वर्मा जन्म शताब्दी वर्ष के आयोजन के अवसर पर सुमित्रानन्दन पंत की तुलना में महादेवी को उन्होंने श्रेष्ठतर माना था। इसी तरह 2011 में उन्होंने स्वीकार किया था कि हिन्दी में मुक्तिबोध की तुलना में अज्ञेय बीसवीं सदी के सबसे बड़े कवि थे। प्रगतिशील लेखक संघ, 'इप्टा' और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ अपने कथित मतभेदों को लेकर भी नामवर सिंह एक समय उलझे थे, लेकिन अपना अलग स्टैंड बना कर उन विवादों से अलग हो गये थे। उनकी बहुचर्चित पुस्तक 'दूसरी परम्परा की खोज' ने भी आलोचना की सैद्धान्तिकी को नये आयाम भी दिये और नये मानक भी। एक अलग अर्थ में रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र

और रामविलास शर्मा के साहित्य विमर्श की समापन कड़ी थे नामवर।

यह मेरी प्रकृत सीमा है कि मैं हिन्दी के अधिकांश सुख्यात लेखकों को उनकी कृतियों के माध्यम से जानता हूं और हमेशा उनसे सीधा परिचित होने से कतराता रहा हूं। इस रुख में बदलाव के कुछेक प्रसंग भी हैं। सन 1988 से 92 तक मैं एक लेखक संगठन की राष्ट्रीय परिषद का सदस्य रहा। लिहाजा बैठकों, गोष्ठियों और सम्मेलनों में कई लेखकों को निकट से जानने का संयोग बना। ऐसा ही संयोग बना कि सन 2012 में नामवर जी से तीन बार मिलने का अप्रत्याशित सुयोग मिला। उस साल अप्रील में शिल्पायन, दिल्ली से प्रकाशित मेरी आलोचना पुस्तक 'बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में' का लोकार्पण दिल्ली पुस्तक मेले में नामवर जी ने विश्वनाथ त्रिपाठी जी के साथ किया था। उसी पुस्तक मेले में स्मृतिशेष मित्र चन्द्रेश्वर कर्ण की रचनावली के लोकार्पण समारोह में प्रकाशक गौरीनाथ जी के अनुरोध पर एक वक्ता के बतौर मैं भी उपस्थित था जबकि नामवर जी उस कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे थे। उसी साल दूरदर्शन के साप्ताहिक साहित्यिक कार्यक्रम 'सुरभि' में उन्होंने मदन कश्यप के साथ मेरी कविता पुस्तक 'पठार को सुनो' पर पांच मिनट तक चर्चा की थी। 'मिडशॉट' की ये मुलाकातें मेरी यादों की धरोहर बन गयी हैं।

लगभग दो दशकों से नामवर जी की कलम रुकी पड़ी थी। लेकिन इन्हीं वर्षों में उन्होंने वाचिक परम्परा को नये प्रतिमान दिये। प्रियदर्शन के शब्दों से मैं अपनी सहमति जोड़ता हूँ कि उन्होंने आलोचना की एक पूरी संस्कृति खड़ी की जिसमें वाद-विवाद और संवाद की महती भूमिका थी। नयी सदी में उनके ऐसे वक्तव्यों-अभिभाषणों के आधार पर तैयार आठ पुस्तकें पाठकों के बीच आ चुकी हैं।... शेष सदा अशेष होता है।

अर्चना वर्मा यानी विचारों और बहसों का अनंत

प्रियदर्शन

अर्चना वर्मा से मेरे परिचय के कई स्तर रहे हैं। पहला परिचय लेखक और पाठक जैसा है जिसकी शुरुआत तब हुई थी जब मैंने उनके कविता संग्रह 'लौटा है विजेता' पर एक टिप्पणी लिखी थी। उन युवा दिनों में उस संग्रह ने मुझे काफी प्रभावित किया था। कविताएं मैं पहले भी पढ़ता रहा था लेकिन सचेत ढंग से पहली बार यह देख पा रहा था कि वह नया स्त्री अनुभव क्या है जिसकी इन दिनों साहित्य में खूब चर्चा होती रही है। इन कविताओं में यातना थी, लेकिन उससे ज़्यादा उसके पार चले जाने का अभिमान था। एक कविता की कुछ पंक्तियां कुछ इस तरह थीं- 'आज उसने फिर / तुम्हारे गलत को / गलत नहीं कहा। / बच्चे को बेबात / पड़ा थप्पड़, / अपने गाल पर सहा / औरतों की बेअकली पर /तुम्हारा लतीफा सुना / और न सुनने का बहाना किया। / बल्कि खुद ही / जुटा दिएअपनी बेवकूफी के सबूत। / और तुम्हारे दंभ को सहलाया/ आज उसने फिर / तुम्हारे बेबस बड़प्पन पर तरस खाया।' इसी तरह एक कविता है, 'सबूत'- 'क्या है /इस औरत में /तुम मुस्कुरा कर पूछते हो / 24 घंटों को निचोड़ कर / 48 में बदलती भी / क्यों निचुड़ती नहीं पूरी तरह / थोड़ी सी बाकी रह जाती है / किसके लिए बचाती है / एक सांस...।'

कहने की ज़रूरत नहीं कि स्त्रीवाद अर्चनाजी के लेखन और चिंतन का बीज शब्द रहा है। बाद के वर्षों में 'हंस' और 'कथादेश' के पन्नों पर उनको बार-बार पढ़ते हुए लेकिन यह बात भी समझ में आई कि यह स्त्रीवाद उनके यहां कोई सपाट मुहावरा नहीं है, कुछ किताबों से अर्जित ज्ञान भर नहीं है, नए ज़माने का फैशन भर नहीं है, उनके भीतर की वह बुनावट है जिसमें वे अपने अनुभव के आलोक में इस अवधारणा को उलट-पुलट कर देखती हैं और कई बार अपर्याप्त पाती हैं। खास कर किसी भी साल के मार्च महीने का 'कथादेश' उठा लीजिए, आपको अर्चना जी इस सवाल पर विचार करती मिल जाएंगी। 2016 में उन्होंने लिखा था, 'स्त्री-विमर्श अभी भी हमारे समाज के लिये आत्म-परीक्षण और आत्मालोचन को उकसाने का समुचित कारण नहीं बन सका है। लेकिन हिन्दी का स्त्री-विमर्श चाहे कितना भी विकलांग, अधूरा, एकतरफ़ा, और अपर्याप्त क्यों न कहा जाता हो, इतनी चेतना तो उसने जगाई ही है कि इस पुरुषवादी मानसिकता की अभिव्यक्ति के

विरुद्ध ऐसा न्यायाधिकार-परायण एकजुट आवेश और प्रतिरोध, एकमत आक्रोश और अभियान संभव हुआ है। निश्चवय ही यह स्त्री-विमर्श के लिये महोत्सव का एक कारण है।'

मेरा जैसे-जैसे उनसे और उनके लेखन से परिचय बढ़ता गया, मैंने पाया कि वे बहुत सूक्ष्म ढंग से विचार करने वाली लेखिका हैं और अमूमन वे इस बात की परवाह नहीं करतीं कि इस प्रक्रिया में उनका लेखन दुरूह हुआ जा रहा है।मेरी तरह के पत्रकार-लेखक को, जो बहुत सपाट किस्म की अभिव्यक्ति में यकीन रखता है और बहुधा इस कोशिश में रहता है कि जटिल से जटिल अनुभव को रचने-रखने का भी कोई सरलतम तरीका हो, अर्चना जी कुछ उलझा देती थीं। मैं पाता था कि उनका लेख कभी खत्म होता ही नहीं, उनकी बातें कभी पूरी होती ही नहीं। धीरे-धीरे मेरी समझ में आया कि अनुभव और अभिव्यक्ति के जिस खेल को मैं अंततः किसी नतीजे तक लाना और दूसरों तक पहुंचाना चाहता था, वह किसी संपूर्णता में, किसी वांछित सरलता में बंधता या समाता ही नहीं है। जैसे हम उसे बांधते हैं, वह विचार कुछ मुर्दा, कुछ निष्प्राण हो जाता है। विचार एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया का नाम है और अर्चना वर्मा जैसे इस विचार के कोई सूत्र या सिरे कभी छोड़ने को तैयार नहीं होती थीं। वे बिल्कुल अथक ढंग से इस प्रक्रिया में लगी रहती थीं, उनके लेख भी इसी प्रक्रिया से निकलते थे और हमेशा उसमें 'शेष अगले अंक में' की गुंजाइश बनी रहती थी।

यह सूक्ष्मता उनकी कहानियों में भी मिलती है। उनकी एक बहुत छोटी सी कहानी है, 'अगुआ'। नेतृत्वकर्ता यह देख रहा है कि जहां तक वह पहुंच गया है, उसके आगे कोई रास्ता नहीं है। आगे जाने का मतलब जूझना और गिर जाना है। वह पीछे हटना चाहता है, लेकिन पीछे जो भीड़ है वह उसे वापस लौटने नहीं दे सकती। उसे शायद मारा जाना है, इसके बाद भीड़ समझ जाएगी कि वापसी ही रास्ता है। कहानी के अंत में उनका नायक कहता है, 'पता नहीं, उनके आगे-आगे मैं उनको अपने इशारों पर चलाता हुआ यहां तक लाया था या वही मेरे पीछे-पीछे मुझको खदेड़ते हुए यहां तक ले आए।'

तो स्थितियों और विचारों का एक द्वंद्व लगातार उनके यहां है। इस द्वंद्व में निरा तर्कवाद उनकी ताकत नहीं है, वे उससे आगे जाकर कहीं लक्ष्य को भी देखती हैं। उनकी एक छोटी सी कहानी है- 'निःशंक'। अम्मा सारे विधि-विधान नियम आचार याद रखती थीं। कब क्या करना है, यह हमेशा उनकी ज़ुबान पर रहता था। इसके पीछे तर्क नहीं, बस संस्कार था जिसका विरोध उनकी बेटी किया करती है। बहुएं भी धीरे-धीरे बदल जाती हैं। कहानी कुछ इस तरह खत्म होती है- बहुओं के निजाम में कोई चीज बस इसलिए नहीं है कि वो बस है। हर चीज़ किसी मतलब से है और बिना मतलब कोई नहीं कि होना जरूरी हो। व्रत उपवास और दुनिया भर के विधि विधान का ढोंग वे नहीं करतीं। वेकेले पीपल नीम कोजल नहीं चढ़ातीं। नमक गिराने से नहीं डरतीं। बुज़ुर्गों को बेहिचक बेइज्ज़त कर लेती हैं। रसोई में चौका नहीं लगता। न घर-आंगन दालानलिपा-पुता दमकता है।वे ताश खेलती हैं, टीवी देखती हैं,बाकी सब पड़ा भिनकता रहता है।'

अचानक हम पाते हैं कि अर्चना जी यहां परंपरा के पक्ष में भी नहीं हैं और छिछली आधुनिकता के साथ भी नहीं है। यह छिछलापन उन्हें मंज़ूर नहीं था।उनकी विचार प्रक्रिया में बारीकियां और ब्योरों की पड़ताल जैसे कभी खत्म नहीं होती थी- उनका पूरा चिंतन बहुत संयम, सब्र और संतुलित तर्क तक पहुंचने की कोशिश के बीच विकसित होता था। हैरानी की बात यह है कि यह काम वे ऐसे समय में कर रही थीं जो सोशल मीडिया के बिल्कुल दैनिक, बल्कि प्रतिक्षण पड़ने वाले दबाव से आक्रांत है और वहां विषय, मुद्दे, विचार बदलने में घड़ी भर का समय भी नहीं लगता। बेशक, वे इस सोशल मीडियां की पीढ़ी की नहीं थीं, कम से कम पांच दशकों के लेखन-पठन-पाठन और अध्यापन का जो अभ्यास उन्होंने अर्जित किया था, उसे वे कैसे छोड़ सकती थीं। लेकिन खूब़सूरती यह थी कि बहुत सारे लेखकों और विद्वानों की तरह वे उससे बंधी भी नहीं रही थीं। बिल्कुल युवा उत्साह के साथ वे सोशल मीडिया पर सक्रिय थीं और पिछले कई वर्षों से लगभग हर किसी से संवादरत भी। वे खूब़ लिखतीं, दूसरों के लिखे हुए पर प्रतिक्रिया देतीं और बहुत बेमुरव्वत होकर, दूसरों से बहुत बेपरवाह होकर अपनी बात कहतीं। हाल के दिनों में हम बहुत सारे साथियों के भीतर यह शिकायत थी कि वे लगातार दक्षिणपंथी हुई जा रही हैं। इन दिनों वे रफ़ाल सौदे को लेकर चल रही बहसों में शामिल थीं और अपनी पूरी बौद्धिक क्षमता से उन लोगों को प्रत्युत्तर दे रही थीं जो इस पर सवाल खड़े कर रहे थे।

यह सच है कि अर्चना जी को हममें से बहुत सारे लोगों ने उनके उत्तरार्ध में देखा। वे बताती थीं कि वे बीस साल में

मिरांडा हाउस जैसे कॉलेज में पढ़ाने लगी थीं। मुझे यह नहीं मालूम कि वे अपने शुरुआती दिनों में कैसी रही होंगी- संकोची, मितभाषी जैसी अमूमन हमारे यहां लड़कियां अपनी कंडीशनिंग, अपने अनुकूलन की वजह से बना दी जाती हैं- या फिर बेहद मुखर और जुझारू जो बहुत सारी लड़कियां अपने चारों ओर घिरी परिधि को लांघ कर हो जाती हैं। मुझे कई बार लगता है कि वे इन दोनों के बीच की कुछ रही होंगी। आत्मविश्वास से पूरी तरह युक्त, लेकिन गैरज़रूरी मुखरता या वाचालता से भी पूरी तरह मुक्त। शायद एक मृदुता उनके स्वभाव में थी लेकिन जो व्यक्तित्व उन्होंने अर्जित किया था, वह ठोस वैचारिक तंतुओं से बना हुआ एक विचारशील और स्वतंत्रचेत्ता व्यक्तित्व था जो लगातार चिंतन-मनन में रहता था। वे हिंदी की उस संस्कृति का हिस्सा थीं जिसमें वाद-विवाद संवाद की अहम भूमिका होती है। वे 'हंस' या 'कथादेश' के पृष्ठों पर लगातार यह संवाद बनाए रखतीं- कई बार खुद़ भी उसके निशाने पर आतीं, मगर उससे बेपरवाह और लगभग निस्पृह रहतीं।

उनके व्यक्तित्व के इस पहलू को मैंने कुछ और क़रीब से तब समझा जब वे रहने के लिए गाज़ियाबाद आ गई थीं। यहां एक और संयोग घटा जिसने हमारे बीच एक पारिवारिक सा तार भी बना दिया। स्मिता- यानी मेरी पत्नी ने- जो कभी-कभार मूड में होने पर कुछ लिख भी दिया करती है, अचानक ऐसे ही किसी मूड में अपनी एक कहानी उन्हें भेज दी। इस कहानी में मगही शब्दों का बहुत इस्तेमाल था। अर्चना जी ने कहानी पढ़ी, शायद उन्हें अच्छी लगी और उन्होंने इस अनजान लेखिका को फोन किया। बातों के सिलसिले में उन्हें समझ में आया कि यह तो जनसत्ता सोसाइटी में रहती है और संभवतः किसी परिचित परिवार की हो। इसके बाद स्मिता ने मेरा परिचय दिया तो वे हैरान हुईं। इसके बाद हमारे मिलने-जुलने की शुरुआत हुई। फिर तो शायद ही कोई महीना हो, जब हम उनके यहां या वो हमारे यहां नहीं हुआ करती थीं। इन घरेलू मुलाकातों में एक स्तर पर वे हमारी अभिभावक सी बनी रहतीं और दूसरे स्तर पर हमसे बहस करती रहतीं।यहां प्रभाजी यानी प्रभा दीक्षित का ज़िक्र ज़रूरी है जो इन तमाम वर्षों में उनकी दोस्त,संगिनी,राजदार सब रहीं। वे भी उद्भट विद्वान हैं और मुझे हमेशा शक होता था कि अर्चनाजी के जिन वैचारिक बदलावों पर हम उदास हुआ करते हैं, वे प्रभाजी के साथ उनकी संगत का बाइ प्रोडक्ट हैं। अक्सर हमारी मुलाकातों में हमारी बहसें बहुत तीखी हो जाया करती थीं। आवाज़ ऊंची होने लगती, माहौल गरम होने लगता। फिर अचानक हम शांत पड़ जाते। इस समूची बहस के दौरान अर्चना जी अमूमन शांत रहतीं। वे ओज़ोन परत की तरह थीं- सारा तापमान सोख लेती थीं। यह भी जोड़ दूं कि–प्रभाजी से सारी बहस के बावजूद हम पर उनका भी स्नेह बराबर बना रहा। वे बहुत जतन से हमारे लिए कुछ न कुछ पकाया करतीं और बहुत आग्रह से खिलातीं।

गाजियाबाद में मिलने-जुलने का एक और सिलसिला 'ककहरा' नाम की एक अनौपचारिक बैठक के साथ शुरू हुआ। इस सिलसिले को समझने के लिए अर्चना जी से पहले अशोक गुप्ता को याद करना होगा जो हाल ही में दिवंगत हुए हैं। अशोक जी में मित्र बनाने की अपार क्षमता थी। वे एक स्तर पर खूब़ जज़्बाती थे और निस्संकोच किसी से मिल लिया करते थे। उन्होंने यहां कुछ लोगों को जोड़ा और एक मासिक बैठक शुरू की। इन बैठकों का स्टार अट्रैक्शन कम से कम मेरे लिए अर्चना जी हुआ करती थीं। सच तो यह है कि ककहरा की बैठकों में अशोक जी और राजकमल के अलावा अर्चना जी ही तीसरी सबसे नियमित सदस्य थीं। यहां हम रचनाओं पर बात करते और अर्चना जी को उनकी गिरहें खोलते देखते।

अर्चना जी के देहावसान ने मुझे उदास किया, लेकिन शायद मैं बहुत भावुक नहीं हो पाया। इसलिए कि मुझे बार-बार खयाल आता रहा कि अर्चना जी ऐसी भावुकता को सख्त़ नापसंद करती थीं। वे बहुत निस्पृह लगभग निष्ठुर प्रतीत होने वाला जीवन जीने की आदी थीं। अक्सर मांएं अपने बेटों का ज़िक्र बड़े उत्साह से करती हैं। लेकिन अर्चना जी कभी अपने दो समर्थ और सफल बेटों का बखान करती नहीं देखी गईं। उनकी श्रद्धांजलि सभा में जब ये बेटे आए और बोले तब समझ में आया कि अम्मा और बेटों के बीच कैसा अन्यतम रिश्ता है।

अर्चना वर्मा ने शायद कई तरह के हादसे झेले। आग में भी झुलसीं। लेकिन अपनी मृदुता के साथ बनी रहीं। वो युवाओं के प्रति बहुत सदय थीं- एक बार लिखा था कि वो उनके सौ खून माफ़ कर सकती हैं। उन्हें कोई दयनीय, घिसटती हुई मृत्यु मंज़ूर नहीं थी। उनको यही चाहिए था- किसी दोस्त के यहां जाएं और चल दें। सब हैरान रह जाएं- किसी अधूरे छूटे विचार की तरह उनको याद करते रहें ।

हम विकास को नकारते हैं।

विवेकानंद माथने

क्या आप जानते है कि आज देश में जो विकास किया जा रहा है उसकी देश और दुनिया के लोगों को बडी कीमत चुकानी पडेगी। देश की लगभग आधी से ज्यादा आबादी से उनका जीने का साधन, उनका रोजगार छीना जायेगा, उनके आवास, उनके गांव तबाह किये जायेंगे और उनको मौत या मौत से भी बदतर जीवन जीने के लिये मजबूर किया जायेगा। और वह विकास के लाभार्थी जो अपने आपको भाग्यशाली कहते हुये विकास का समर्थन करते नही थकते क्या वह जानते है कि आधुनिक विकास ने सृष्टिके प्रकृति चक्र को तोडा है और जिससे पृथ्वी के अस्तित्व को ही संकट पैदा हुआ है।पर्यावरण को अपरिवर्तनीय क्षतिपहुंची है। जलवायु परिवर्तन, तापमान वृद्धि, प्रदुषण और प्राकृतिक आपदाओं के कारण सबको भयंकर परिणामों का सामना करना पडेगा। तब वह विकासवादी भी प्राकृतिक आपदाओं से होनेवाली तबाही से नही बच सकेंगे। अगर आप यह समझ रहे है तो फिर पूरी विकास नीति पर आज पुनर्विचार करते हुये हिम्मत से कहना होगा कि हां, हम विकास का विरोध करते है। हम विकास को नकारते है। जीना है तो विकास को नकारना ही होगा।

आज पूरे देश में इंडस्ट्रियल कॉरिडोर, रेल कॉरिडोर, इंडस्ट्रियल झोन, व्यापारिक झोनबनाये जा रहे है। कारपोरेट खेती, रियल इस्टेट को बढावा दिया जा रहा है। रेल, हवाई, जल परिवहन की विशेष सुविधाएं निर्माण की जा रही है। बडे बांध बनाने और नदियां जोडने का काम किया जा रहा है। जल मार्ग के लिये समुंदर व नदियां बांधी जा रही है। मेट्रो, पोर्ट, सीमेंट की सडके और पुल बनाये जा रहे है। घरों में इस्तेमाल के लियेविलासिता के सामान, खानपान की लग्जरी सेवाएं, लग्जरी वाहनों, नई कारों आदी का उत्पादनबढाया जा रहा है। मॉल, शॉपिंग सेंटर, होटल का निर्माण किया जा रहा है। प्राकृतिक सौंदर्य से समृद्ध स्थानों, धार्मिक स्थानों को पर्यटन केंद्र में परिवर्तित किया जा रहा है।

इस समय देश में 6749 किलोमीटर लंबाई के 6 इंडस्ट्रियल कॉरिडोर बनाये जा रहे है। जिसमें पोर्ट, एअर पोर्ट, सडके, रेलमार्ग, इंडस्ट्रियल झोन, नये स्मार्ट शहर बनाये जायेंगे। रेल्वे के 10122 किलोमिटर लंबाई के 6 डेडिकेटेड फ्रेट कारिडोर बनाये जा रहे। रियल इस्टेट में नये शहर, 100 स्मार्ट शहर, शहरों में स्मार्ट बस्तियां खडी की जा रही है। पूरे देश में प्रतिदिन 27 किमी की गति से सीमेंट सडकों का जाल बिछाया जा रहा है। कारपोरेट खेती के लिये खेती कंपनियों को सौंपी जा रही है। खदानें, बांध, स्टील, ऊर्जा आदि परियोजनाओं का निर्माण किया जा रहा है। नदियों और बांधों का पानी उद्योगों को हस्तांतरित किया जा रहा है।लकडियों के लिये जंगल कटाई हो रही है। खनिज संपदा का बडी मात्रा में दोहन किया जा रहा है।

एक अनुमान के अनुसार अबतक ग्रामीण भारत की लगभग 4.8 करोड हेक्टर जमीन कम हुई है। यह जमीन गैरकृषि कार्य के लिये कारपोरेट घरानों, बिल्डरों या फिर खेती के लिये गैरकिसान शहरी धनवानों के पास गई है। प्रतिवर्ष लगभग देश में उत्पादित या आयातीत 800 मिलियन कोयला जलाया जाता है। प्रतिवर्ष 208 मिलियन टन स्टील और कच्चे इस्पात, 500 मिलियन टन सीमेंट का उत्पादन किया जा रहा है। हजारों टन लकडियां जंगल से काटी जाती है। यह अनुमान है कि विकास योजनाओं के लिये लगभग 4 करोड हेक्टर जमीन, 80 बिलियन क्युबिक मीटर पानी, 7 लाख मेगावैट बिजली की आवश्यकता होगी। कोयला, सीमेंट और अन्य चीजों का उत्पादन भी उसी अनुपात में बढेगा।

हाऊसिंग, कंस्ट्रक्शन, इंफ्रास्ट्रक्चर, मैन्युफैक्चरिंग, पावर जनरेशन आदि सभी विकास कामों के लिये प्रतिवर्ष जमीन, पानी, लकडियां, लोहा, सीमेंट, कोयला, खनिज, गौण खनिज और पर्यावरण आदी की बडे पैमाने में जरुरत पडेगी। यह सारी चीजे आसमान से नही टपकती।बल्कि उन लोगों से छीन ली जायेगी जिनका उसपर अधिकार है और जिनके जीवन का आधार है। यह सब करोडो किसानों, आदिवासियों, ग्रामीणों को कारपोरेट के हातों बलि चढाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिये करोडो लोगों और हजारों गावों के अधिकार छीने जायेंगे।

खेती, उद्योग, व्यापार, सेवाऐं सब कारपोरेट को सौपा जा रहा है। प्राकृतिक संसाधनों से समाज का हक छीनकर उसे कारपोरेट्स को हस्तांतरण के लिये साजिशपूर्ण तरीके से कानूनन वैधता प्रदान की गई है। मेक इन इंडिया के तहत देशी विदेशी कारपोरेट कंपनियों को विकास का काम सौंप करउन्हे अनेक सहूलियते दी जा रही है। पिछले दस सालों में टैक्स में 55 लाख करोड रुपये की छूट कंपनियों को दी गई है। बैंको का 12 लाख करोड में से अबतक 3.5 लाख करोड का कर्ज कारपोरेट्स को माफ किया गया है। रिअल इस्टेट को बढावा देने के लिये जीएसटी के रेट कम किये गये है।

वर्तमान सरकार के सीमेंट मैन का बस चले तो वह पूरी पृथ्वी पर सीमेंट की मोटी परत बिछा देंगे। वह प्रतिदिन 47 किलोमीटर की गती से एक से देढ फुट मोटी सडके बनाना चाहते है। जल मार्ग के लिये नदियां, बांध, समुद्र किनारों को भी सीमेंट से बांध देना चाहते है। वह बताते है कि अबतक लगभग 37 लाख करोड का निवेश किया जा चुका है। रिअल इस्टेट में कारपोरेट्स ने 7 लाख करोड रुपये के निवेश की घोषणा की है।लेकिन वह ये नही बताते कि अगर कंस्ट्रक्शन के सारे काम टेंडर राशि के केवल 50 से 60 प्रतिशत कीमत में पूरे होते है तो फिर बाकी राशि कहां जाती है।

विकास से प्राप्त सारी सुविधाएं अगर सभी के लिये संभव होती और इससे पृथ्वी पर किसी प्रकारका बोझ न पडता तो इसे सहर्ष स्वीकार किया जा सकता था। लेकिन यह सबके लिये संभव नही है। पृथ्वी में इतनी क्षमता नही है कि वह सबकी भौतिक महत्वाकांक्षा को पूरा कर सके। थोडे लोगों के भौतिक सुख के लिये अधिकांश लोगों को बली चढाना विकास नही कहा जा सकता।

आधुनिक विकास दुनिया में अमीरों का अजेंडा है जो खुद को दुनिया के मालिक और बाकी सभी लोगों को गुलाम मानते है। अपनी राक्षसी महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिये अमीरों ने दुनिया के एक तबके को लाभार्थी बनाकर लूट में शामिल किया है। वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के बाद दुनिया में जिस तेजीसे आर्थिक व्यवस्था में बदलाव आये है उससे सकल घरेलू उत्पाद में बढोतरी के बावजूद गरीबी, बेरोजगारी, कुपोषण, भुखमरी बढी है। आर्थिक गैरबराबरी चरम सीमा पर पहुंची है। देश में जो संपत्ति पैदा हुई है उसका 75 प्रतिशत लाभ देश दुनिया के केवल एक प्रतिशत अमीरों और उनके लिये काम करनेवाले उनके गुलामों को ही मिला है। जबकी दुनिया की आधी आबादी जीने के लिये तरस रही है। पूरी दुनिया इसके विरुद्ध आक्रोशित है।

कारपोरेटी विकास हिंसा पर आधारित है। कारपोरेट उपनिवेशवाद के नये दौर में हर देश में अमीर और गरीब देश पैदा किये जा रहे है।सस्ते श्रम और प्राकृतिक संसाधन से प्राप्त संपत्ति कार्पोरेट घरानोंद्वारा लूटी जा रही है।एक विशिष्ट उपभोक्ता वर्ग खडा कर उनकी क्रयशक्ति बढाने के लियेउनके वेतन बढाये जाते है और उसके लिये आधी आबादी के अधिकारकुचलदिये जाते हैजिससे समाज में आर्थिक गैरबराबरीबढती जा रही है।

जब किसानों और श्रमिकों को बलिदिया जाता हैतब छोटे दुकानदार, व्यापारी और उद्योजकउसका समर्थन करते है और कहते है कि सरकार तो किसी को फोकट नही खिलाना चाहिये। लेकिन उन्हें ध्यान रखना चाहियेकि पडोस में लगी आग तुम्हारे दरवाजे पर दस्तक दे रही है और अभी तुम नही संभले तो किसान मजदूर कम से कम संघर्ष कर रहे है। तुम तो संघर्ष करने के स्थिति में भी नही रहोगे। मॉल, शॉपिंग सेंटर और व्यापार के सभी क्षेत्र में कारपोरेट का प्रवेश आपका भी रोजगारछीननेवाला है। इसलिये उनका साथ दीजिये जो इस समय चक्की में पिसे जा रहे है।

विकास योजनाओं से बडे पैमाने पर रोजगार पैदा होने का दावा सही साबित नही हुआ। जितने लोगों को रोजगार मिला है उससे कई गुना अधिक हाथों का काम छीना गया है। अबतक यंत्रों के उपयोग ने श्रमिकों का रोजगार छीना है।अब कृत्रिम बुद्धिमत्ता बुद्धिजीवियों के रोजगार छीनने की तैयारी कर रही है।इसलिये अब तो बुद्धिजीवियों तुम्हे भी सावधान होने की जरुरत है।

आजादी आंदोलन में कौन किसके साथ खडा था यह इतिहास के पन्नों में दर्ज हो चुका है। अब जब वर्तमान इतिहास के पन्नों में दर्ज होगा तब विकासवादियों के लिये यह लिखा जायेगा कि जब देश कारपोरेटी लूट के खिलाफ संघर्ष कर रहा था तब वह दुनिया के लूटेरें कारपोरेट घरानों और अमीरों के साथ खडे थे।

लोकतंत्र में जनता से मत पाकर सरकारें बनती है। इसलिये अगर आप विकास को मत देते है तो मान लीजिये की आप अपने तबाही को अनुमति दे रहे है। विकास को मत का अर्थ है अपने खुद और परिवार के लिये अपने ही हाथों कबर खोदना। तब आप खुद के लिये रोने का अधिकार गवां चुके

होंगे।

हम क्या करें? हम अपने से शुरुवात करें। याद रखिये जो आपके लिये जरुरी है वह दुनिया के हर व्यक्ति के लिये जरुरी है। इसलिये अपनी आवश्यकताओं को कम करे। सादा जीवन अपनाये। प्याऊ लगाईये और लोगों को पानी पिलाईये। बिजली का उपयोग कम से कम करे। घर छोटा रखे और एक से काम चल रहा हो तो दूसरा ना खरीदे। घर को लग्जरी सामानों से ना भरे। एसी का त्याग करें।सार्वजनिक वाहनों का इस्तेमाल करें। पेड लगाईये। पानी बेचने का विरोध करे। कृषि भूमी का गैर कृषि कार्य के लिये इस्तेमाल रोकिये।फॉरेस्ट विभागों को अमीरों के लिये पेड काटने से रोकिये। कारपोरेट्स को लाभ पहुंचाने वाले खदानों, बडे बांधो के निर्माण का विरोध करे। इंफ्रास्ट्रक्चर निर्माण का विरोध करे।जमीन को सीमेंट से ढकने से रोकिये। धार्मिक स्थानों को पर्यटकों का उपभोग केंद्र न बनने दे। पर्यावरण रक्षा और विकास का समर्थन एक साथ संभव नही है। इसलिये पूरे कारपोरेटी विकास का विरोध करे। खुद को और दुनिया को बचाने का यही एकमात्र रास्ता बचा है।

अगर कोई ये पूछे कि विकास विरोधी बनकर क्या आप देश को बैलगाडी युग में ले जाना चाहते हो। तो उन्हे बताईये कि बैलगाडी युग पीछडापण नही है। बल्कि हमारे पूर्वजों ने विचारपूर्वक सृष्टी के प्रकृति चक्र के अनुरुप जीवनशैली को अपनाया था।वह जानते थे कि भौतिक आवश्यकताओं के लिये उसे तोडना विनाशकारी है। जीवन के सर्वांगिण विकास के लिये सजीव उर्जा के उपयोग से ही जीवन समृद्ध हो सकता है। इसलिये उन्होंने कृत्रिम उर्जा, यंत्रों की खोज और औद्योगिकरण का रास्ता नही अपनाया।आज विज्ञान को भी इसे स्वीकार करना पड रहा है। हमे समझना होगा कि औद्योगिकरण और यांत्रिकीकरण के अलावा भी आगे बढा जा सकता है। हमें विकास पूरी अवधरणा पर पुनर्विचार करना चाहिये। विकल्पों की तलाश करनी चाहिये।

टाल्सटाय को याद करना क्यों जरूरी है

भारत डोगरा

आज के पेचीदा दौर में गांधी की अनेक तजबीजें हमें रास्ता दिखा सकती हैं, लेकिन ऐसी उलझनें आने पर खुद गांधी क्या करते थे? वे अपने समकालीनों में टाल्सटाय को याद करते थे। टाल्सटाय या गांधी के एक और प्रेरक हेनरी थोरो का पुनर्पाठ इसीलिए अब जरूरी है। प्रस्तुत है, इसी विषय पर पत्रकार भारत डोगरा का यह लेख-संपादक।

दुनिया की अनेक बुनियादी समस्याओं के समाधान प्राप्त करने के लिए इक्कीसवीं शताब्दी में महात्मा गांधी के विचारों को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। पर एक ऐसे विचारक भी थे, जिन्हें महात्मा गांधी भी अपना गुरू मानते थे और गांधी जी के जिस जीवनदर्शन को आज बहुत महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है, उसे अपनाने में उन्हें इस विचारक से बहुत प्रेरणा मिली थी।

ये विचारक व दार्शनिक थे लियो टालस्टाय। विश्व स्तर पर उन्हें सबसे अधिक ख्याति अपने उपन्यासों 'वार एंड पीस' व 'एना केरानीना' से मिली और इसमें कोई संदेह नहीं कि यह महान साहित्यिक उपलब्धियां हैं। पर टालस्टाय अपने जीवन में आगे बढ़ने पर स्वयं इन जीनियस उपलब्धियों को कम महत्व देने लगे थे व उनके लिए बाद के दिनों में लिखे गए नीति निबंध, कहानियां व नाटक अधिक महत्त्वपूर्ण होते गए जो उन्होंने विश्व में बुनियादी सामाजिक बदलाव लाने के लिए लोक-शिक्षण की दृष्टि से लिखे।

यह बहुत कम लोगों को पता है कि इनमें से अनेक कहानियों का हिंदी अनुवाद अपने लेखन के आरंभिक दिनों में मुंशी प्रेमचंद ने स्वयं किया। गांधी जी की तरह प्रेमचंद भी टाल्सटाय से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने टाल्सटाय की 23 नीति कथाओं का भारतीय परिवेश के अनुसार रूपांतर कर 'प्रेम प्रभाकर' के नाम से प्रकाशित करवाया था। अमृत राय ने 'कलम का सिपाही' में लिखा है कि अपनी कुछ 'सेवामार्ग' व 'उपदेश' जैसी नीति कथाएं भी उन्होंने टाल्सटाय के प्रभाव में लिखीं थीं और लेखनी व जीवन दोनों में अनेक सदगुणों को टाल्सटाय की प्रेरणा से प्राप्त किया था। इससे भी पहले

महात्मा गांधी ने टाल्सटाय की नैतिक कथाओं का अनुवाद गुजराती में किया था।

महात्मा गांधी पहले तो टाल्सटाय के लेखन से बहुत प्रभावित हुए व फिर उन्होंने आगे मार्गदर्शन के लिए टाल्सटाय को दक्षिण अफ्रीका से एक पत्र लिखा। उस समय टाल्सटाय बहुत वृद्ध हो चुके थे व कठिन स्थितियों से गुजर रहे थे। इसके बावजूद उन्होंने गांधी जी को उत्तर में विस्तृत पत्र लिखा। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण पत्र है जिसका गांधी जी पर गहरा असर हुआ। उन्होंने सही जीवनमार्ग की तलाश में आश्रम विकसित किया तो इसका नाम टाल्सटाय के सम्मान में ही रखा।

टाल्सटाय ने अपने अंतिम दिनों में लोकशिक्षण के लिए जो निबंध, नाटक व कहानियां लिखे उनमें उन्होंने समतावादी ग्रामीण समाज को बहुत प्रतिष्ठित किया। जहां उस समय साम्यवादियों का झुकाव शहरों व औद्योगिक मजदूरों में क्रांति लाने की ओर था, वहां टाल्सटाय ने इससे हटकर ग्रामीण जीवन को प्रतिष्ठित किया पर साथ में इसे समतावादी बनाने के लिए बहुत जोर दिया।

उनका मानना था कि जमींदारों को अपनी भूमि उन मेहनतकश किसानों व खेत मजदूरों को देनी चाहिए जो इस भूमि पर मेहनत करते रहे हैं व इसके वास्तविक हकदार हैं। इस तरह के समतावादी विचारों के लिए वे अपने अभिजात सामंती वर्ग के विरोध में खड़े नजर आए। उन्होंने इस समतावादी ग्रामीण समाज के समर्थन में ईसाई धार्मिक विचारों की अपने ढंग से व्याख्या की जिसके कारण चर्च के बड़े मठाधिपति भी उनके विरुद्ध हो गए।

टाल्सटाय ने सभी तरह के नशों का बहुत मौलिक ढंग से विरोध किया जो आज भी नशा विरोधी आंदोलनों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने ऐसे बुनियादी सवाल उठाए कि आखिर इतनी बड़ी संख्या में लोग नशा क्यों करते है। उन्होंने युद्ध व पूरी सैन्य व्यवस्थाओं का भरपूर विरोध किया और दुनिया से युद्ध को सदा के लिए समाप्त करने के लिए लोगों को कहा। अमन-शांति चाहने वालों पर उनके विचारों का गहरा असर पड़ा।

सभी तरह के भोग विलास, उपभोक्तावाद, फिजूलखर्ची का टाल्सटाय ने अपने जीवन के दूसरे भाग में जमकर विरोध किया। अपने जीवन के पहले भाग में टाल्सटाय ने भोग विलासिता व ऐन्द्रिक सुख खूब भोगे थे व युद्ध में भागीदारी भी की थी, पर इसको नजदीक से देखने के बाद वे इन प्रवृत्तियों के जबरदस्त विरोधी के रूप में उभरे। दुर्भाग्यवश उनके परिवार व रिश्तेदारों ने यह बदलाव स्वीकार नहीं किया व वे निरंतर अकेले पड़ते गए।

अनेक संकटों से बाहर निकलने की राह तलाश रही दुनिया के लिए टालस्टाय के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनेक नीति निबंधों, नाटकों व कहानियों का हिंदी अनुवाद सस्ता साहित्य मंडल की ओर से प्रकाशित होता रहा है जबकि अंग्रेजी भाषा में उनके अनेक नैतिक लेख इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। (सप्रेस)

श्री भारत डोगरा प्रबुद्ध एवं अध्ययनशील लेखक हैं।

(विश्व महिला दिवस 8 मार्च पर विशेष)

समाज में स्त्रियों की अ-दृश्य भूमिका

शंपा शाह

ऐसे समय में जब देश के अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत करीब 94 फीसदी महिलाओं के आर्थिक योगदान को नकारा जाता हो, 'सकल घरेलू उत्पाद' यानि जीडीपी में उनकी भूमिका अनदेखी की जाती हो या उनके काम को कम करके आंका जाता हो, महिलाओं की कुछ अनूठा रचने, गढ़ने की क्षमताओं को अलग से देखा जाना चाहिए। छोटे-छोटे, अनजाने-से आम-फहम घरेलू काम दरअसल महिलाओं की रचनात्मकता को उजागर करते हैं। यह रचनात्मकता महिलाओं को उनकी हंसी, जिजीविषा और व्यापक दृष्टि देती है। प्रस्तुत है, 'विश्व महिला दिवस' पर इसी विषय पर प्रकाश डालता शंपा शाह का यह लेख।-संपादक

कल्पना कीजिए एक स्त्री की जो स्वेटर बुन रही है या सिलाई कर रही है। उसके हाथ लगातार बुन रहे हैं और ठीक उसी समय कोई अदृश्य हाथ उसे उधेड़ता जा रहा है। स्त्रियों के अधिकांश कामों के साथ रोज ऐसा ही होता है। वह बर्तन मांजकर उन्हें चमचमा देती है और कुछ ही घंटों बाद उस जगह फिर जूठे बर्तनों का ढ़ेर होता है। वह घर बुहारती है, पानी भरती है, बच्चों को नहलाती है, खाना पकाती है। मगर इनमें से कोई भी काम, कभी भी पूरा नहीं होता। काम पूरा करने का संतोष क्या होता है, यह स्त्रियां बहुत कम जान पाती हैं। सुबह की रसोई से निपटे, लेकिन शाम की रसोई बाकी है। सुबह झाड़ू लगाई, घर सहेजा, लेकिन शाम तक पैरों के नीचे धूल है और घर अस्त-व्यस्त है।

ऐसे काम जो उसे खुद ही कभी पूरे हुए नहीं दिखते, उन्हें वह दूसरों को कैसे दिखाए? ये वे काम हैं जिन्हें हर दिन, साल-दर-साल, लगभग एक ही तरह से बार-बार किया जाना है। इन्हें दिमागी काम नहीं माना जाता। बल्कि सच पूछिए तो ये दिमाग को कुंद कर देते हैं। दिमाग इन छोटे-छोटे कामों के भंवर जाल में चक्कर खाता रहता है। स्त्री जीवन का हर दिन पिछले दिन जैसा है। उसमें कुछ भी नया नहीं बस एक पैटर्न या नमूना है, जो खुद को दुहराते रहता है।

इससे मन में अचानक यह बात आई कि क्या इसीलिए स्त्रियों को कढ़ाई, बुनाई, क्रोशिया, चैक-मांडने-रांगोली पसंद हैं, क्योंकि उनमें पैटर्न्स हैं जिन्हें दुहराना होता है। कई बार तो ये नमूने इतने जटिल होते हैं और उनमें इतना जोड़-घटाना रहता है कि समझ ही नहीं आता कि जो स्त्री कभी स्कूल नहीं गई, जिसने गणित नहीं पढ़ा वह ये नमूने कैसे याद रख रही है, या बना रही है? जो किसी कला विद्यालय नहीं गई, उसे आकारों, रंगों के तालमेल के बारे में ऐसा ज्ञान कहां से मिला? और फिर ये रांगोली, ये रंग-बिरंगे मोती के तोरण, ये बचे हुए ऊन से बने स्वेटर, ये बचे हुए कपड़ों और धागों से बने झबले व फ्राक इतने सुंदर भी तो लगते हैं। ये नीरस काम तो नहीं लगते? अगर ये नीरस काम ही बने रहते तो वे स्त्रियाँ जो इन्हें करती आई हैं, उनका हाल क्या होता? वे क्या कभी हंसती, गुनगुनाती दिखाई देतीं?

लेकिन स्त्रियों की सबसे खास पहचान ही यह है कि वे खिलखिला कर हंसती हैं और बात-बात पर और बिना बात के भी हंसती हैं। इस हंसी का स्रोत कहां है? सोचने पर लगता है कि इसके दो स्रोत हैं। सब्जी, आचार, मिठाइयों में जो असंख्य स्वादों की, गोदड़ी, फ्राक, स्वेटर, बांस की डलिया, गोदने-मांडने के अनंत रंगों और नमूनों को सिरजने में जो कल्पना लगती है वह इसका स्रोत है। सृजन की शक्ति। कुछ गढ़ने की शक्ति।

लेकिन तब प्रश्न उठता है कि यह सब बनाने, गढ़ने की इच्छा ही क्यों होती है? इस इच्छा-शक्ति का स्रोत क्या है? यदि हम हिंदी के स्त्री-वाचक शब्दों या स्त्री भाव को व्यक्त करने वाले शब्दों की सूची बनाए तो उसका जो सबसे प्रकट रूप निकल कर आता है वह कामधेनु या अन्नपूर्णा यानी हर इच्छा पूरी करने वाली का है। वह भूमा,पृथ्वी, अंबा, शक्ति, सरिता,सविता,समिधा, वसुंधरा है। वह श्री, भारती, शाश्वती है। वह हर करने, सोचने लायक काम की 'भूमिका' है।

यह अपने आप में कितनी विचित्र बात है कि जो समाज अपनी भाषा में उसे 'भूमिका' कहकर बुलाता है, उसी समाज व संस्कृति को खुद के निर्माण और विकास में स्त्रियों की कोई भूमिका दिखाई नहीं देती। अब जरा हर दिन के बिंबों में स्त्री को याद करिए-सड़क के किनारे पत्थर तोड़ती हुई, बगल में

बच्चा और सिर पर ईंट, लकड़ी का गट्ठर ढोती हुई, बुवाई, गुड़ाई, निंदाई, कटाई करती हुई, फटकती, छानती, बीनती, समेटती हुई, जंगल से घास, टहनियां, बीड़ी-पत्ता, कंदमूल लाती, कचरे के ढेर से पन्नी-बोतल बीनती, बेचती, छोटी-सी बांस की डलिया से मछली पकड़ती, नाचती, गाती, जमीन, कपड़ों, मटकों पर चित्र बनाती हुई छवियां। इन असंख्य कामों को करते हुए भी मूलतः उसकी चिन्ता और भूमिका-अन्नपूर्णा की यानी, लालन-पालन करने की है।

मां होने के नाते सबका पेट भरने, सबको बीमारी या तरह-तरह की मुसीबतों से बचाने, उनके मंगल की, खुशहाली की कामना से वह भरी रहती है। उसके लिए कोई भी काम इतना छोटा नहीं हो सकता (कचरे के ढेर में घुसकर पन्नी-लोहा बीनना भी नहीं), यदि वह बच्चों की भूख मिटाने के लिए दो-चार रुपए दे सकता है। बड़े स्वप्न देखने का यहां मौका ही कहां है। वह सुकून भरा समय जिसमें दिमाग कोई गहरी, बड़ी बात सोच सके, ऐसा समय कहां है, एक कामगार स्त्री के पास?

जब एक स्त्री एक स्वेटर या डलिया- चटाई-सूपा-झाडू बनाती है तो उन्हें घर में या अपने आसपास के लोगों के इस्तेमाल के लिए बना रही होती है। इन अपने लोगों के लिए बनाते हुए उस काम से रिश्ता प्यार का, अपनत्व का होता है। इसलिए ये काम थकाऊ और नीरस होने से बच जाते हैं। प्रेम की सिंचाई इन सारे कामों को रचनात्मक ऊर्जा से भर देती है। इन सारी चीजों का व्यवसायीकरण अभी हाल-हाल में शुरू हुआ है।

स्त्री का संसार चूंकि घर के चारों ओर घूमता है, इसलिए यह एक भ्रम है कि उसकी देश के आर्थिक-सामाजिक विकास में कोई भूमिका नहीं होती। तथ्य इससे बिलकुल विपरीत हैं। उसके हल चलाने पर मनाही है, पर वे खेती के तमाम अन्य कामों में सबसे अधिक जुड़ी है। उसके बड़े-बड़े जाल समुद्र में फेंकने पर मनाही है, पर वह इतनी मछलियां जरूर पकड़ती है जिससे घर का चूल्हा जल पाए।

अधिकांश लोग इस तथ्य को नहीं जानते कि हमारे देश में खेती के बाद दूसरे सबसे अधिक रोजगार कुटीर उद्योग या हस्तशिल्प से आते हैं। देश के पच्चीस करोड़ परिवार अपने हाथ के हुनर या कलाकारी से ही रोजगार पाते हैं। देश के निर्यात राजस्व का सबसे बड़ा हिस्सा यहीं से आता है। यह बात लाउड-स्पीकरों पर एलान करके बताने लायक है कि इस देश की अर्थव्यवस्था को हमारे हुनरमंद हाथ चला रहे हैं जिनमें स्त्रियों की भूमिका पुरुषों से अधिक नहीं, तो बराबर अवश्य है।

इससे भी अधिक छुपा हुआ, न दिखने वाला तथ्य यह है कि हमारे देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ स्वरोजगार है, यानी जो खुद अपना छोटा-मोटा, खेती, कुटीर उद्योग या मजदूरी जैसा काम करते हैं वे लोग हैं। न कि चंद गिने-चुने अंबानी या टाटा परिवार। हमारे देश में सरकारी और निजी दोनों को मिलाकर कुल सात प्रतिशत नौकरियां हैं। बाकी सब खुद काम करते हैं, भले ही वह अक्सर उनकी मर्जी का नहीं होता।

स्त्रियों के मामले में ये आंकड़े और भी भयानक रूप ले लेते हैं। पूरे देश में सिर्फ छह प्रतिशत स्त्रियां ही नौकरी करती हैं। बाकी 94 प्रतिशत स्त्रियां, यकीन मानिए, खाली नहीं बैठी हैं। वे स्वरोजगार से जुड़ी हैं। इन स्वयंसेवी स्त्रियों के काम करने की गिनती रखने वाला देश में कोई रजिस्टर नहीं है। इला बहन और उनके द्वारा स्थापित बहनों की स्वयंसेवी संस्था 'सेवा' (सेल्फ एम्लॉयड वीमेन्स एसोसिएशन) इस नाते विलक्षण है। वह देश की इन असंख्य अकेले काम कर रही स्त्रियों को एक साथ जोड़कर उन्हें संगठित करती है। उन्हें एक-दूसरे के साथ होने की गरमाहट, कामकाजी, आत्मनिर्भर नागरिक होने का एहसास करवाती हैं। 'सेवा' महिलाओं की रचने, गढ़ने की क्षमताओं और उनकी हैसियत का अहसास भी करवाती हैं। और शायद रोजगार और कमाई के साथ-साथ कुछ विशिष्ट रचने का यही अहसास महिलाओं को एक खास दर्जे पर स्थापित भी करता है। (सप्रेस)

शंपा शाह मूलतः मूर्तिकार हैं, जो पिछले बीस सालों में मिट्टी के माध्यम में काम कर रही हैं। वे इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय, भोपाल के सिरेमिक अनुभाग से सम्बद्ध रही है। लोक व आदिवासी कला, साहित्यिक पहलुओं पर लिखती रहती हैं।

मेरा पहला दोस्त

प्रीतीश आचार्य

अपने गाँव के स्कूल में जब पहली कक्षा में मेरा दाखिला हुआ, तब जिन कुछ बच्चों से दोस्ती हुई, उनमें से एक था 'माधु'। स्कूल में उसका नाम था-माधव चंद्र बादि। पर बच्चों से लेकर शिक्षक तक, सभी उसे माधु के नाम से जानते थे। कभी-कभार यदि कोई उसे 'माधवचंद्र' कहकर बुलाता, तो वह चिढ़ जाता था। उसे चिढ़ाने के लिए ही बच्चे उसका स्कूल वाला पूरा नाम लेते थे। गुरुजी भी जब कभी उस पर गुस्सा करते थे, दंड देने से पहले दाँत भींचते हुए चिल्लाते थे-माधव चंद्रबादि! गुरुजी पर तो वह विरक्त नहीं हो पाता था, यदि दूसरा कोई उसे उसके नाम से बुला लेता तो वह अपनी ताकत के हिसाब से प्रतिक्रिया व्यक्त करता था। अपने से कम उम्र के बच्चों के साथ लड़ पड़ता और बड़े बच्चों को माँ-बहन की गालियाँ देता था। वैसे तो मेरा नाम भी स्कूल में घर के नाम से अलग था किंतु कुछ समय बाद स्कूल वाले नाम से ही बुलाया जाने लगा। चूँकि मेरे नाम से चिढ़ाने का उद्देश्य किसी का भी नहीं होता था, इसलिए कभी भी वह मेरे लिए लज्जा का कारण नहीं बना।

चौथी कक्षा में दो-दो बार फेल करने के बाद माधु फिर कभी स्कूल नहीं आया। अपने बाप के साथ शादी-ब्याह में बैंड पार्टी में बाजा बजाने जाने लगा। छोटे बच्चे की हैसियत से शुरूआत में झुमका बजाता था। कभी-कभी दर्शकों की फरमाइश पर गानों के साथ नाचता भी था। मैं भी प्राथमिक स्कूल से पाँचवी कक्षा पास करने के बाद गाँव में ही स्थित एम.ई. में पढ़ने गया। पहली बार जब वह चौथी कक्षा में फेल हुआ, हम दोनों में दोस्ती कम हो गई। उसके स्कूल छोड़ने के बाद दोस्ती क्या, भंटे -मुलाकात भी कम हो गई। उम्र बढ़ने के साथ-साथ मरे चाहने के बावजूद दास्ेती तो रही ही नहीं।

कभी-कभार मिलने पर मैं उसे 'तू' कहकर संबोधित करता था किंतु वह मुझे 'तुम' (आप) कहकर बात करता था। मना करने पर भी नहीं मानता था। अब तो कई सालों से मुलाकात भी नहीं हुई है। जब कभी गाँव जाता हूँ, उसके बारे में पूछताछ करने की सोचता हूँ, पर व्यस्तता के कारण याद नहीं रहता। संभवतः माधु गाँव छोड़कर किसी और गाँव में रहता है, जो कि माधु जैसे रोजगारपरस्त परिवार के लिए एक साधारण बात है। अगर ऐसा न होता तो कम से कम गाँव में कभी न कभी भंटे हो ही जाती। माधु के परिवार के पास अपनी कोई जमीन जायदाद तो थी नहीं, केवल एक कमरे वाली एक झोंपड़ी थी और वैसे भी कहीं रोजगार का साधन सुलभ होने पर उनके जैसे लोग बेझिझक गाँव छोड़कर कहीं भी बस जाते हैं।

माना जाता है कि एक गाँव छोड़कर दूसरे गाँव में बसने में उन्हें ज्यादा असुविधा नहीं होती है। पता नहीं! माधु एक दलित घर का लड़का था। जैसे माधवचंद्र कहने पर कोई भी नहीं समझता था, वैसे ही गाँव में दलित का कोई अर्थ नहीं था। लोग उन्हें उनकी जात के नाम से जानते थे। माधु था घासी जाति का, जो कि अछूत (अस्पृश्य) जाति थी। उन्हें छूने से कपड़े बदलने पड़ते थे। पर हाँ, स्कूली बच्चों के लिए इस नियम का ज्यादा सख्ती से पालन नहीं होता था।

घासी जाति के लागे पहले घास काटकर अपना गजु रा करते थे। गाँव के संपन्न किसानों के गाय-बैलों के लिए वे लोग जंगल से घास काटकर लाते थे। हालांकि मैंने मेरे बचपन में भी ऐसा कुछ उन्हें करते हुए नहीं देखा था। बचपन से शादी-ब्याह में बाजा बजाते, मरे हुए जानवरों को किसान की गौशाला से हटाते; उनकी चमड़ी से कई किस्मों के वाद्य यंत्र बनाते और जरूरत के समय खेत में मजदूरी भी करते देखा था। इन सब के अलावा मोहल्लों की सफाई का काम भी उन्हें ही करना पड़ता था। गाँव-मोहल्लों की साफ-सफाई का काम करने के लिए वैसे तो उन्हें सम्मान मिलना चाहिए था, परंतु इसके विपरीत, ''गंदे काम करते हैं'' जैसी तिरस्कारपूर्ण टिप्पणी कर उन्हें पास नहीं आने दिया जाता था, दूर रखा जाता था।

बचपन में इन सदृश परिस्थितियाँ मुझे कभी विचलित नहीं करती थी बल्कि मैं उन्हें स्वाभाविक मानता था। इसका क्या कारण रहा होगा? शायद मैं जब भी इस बारे में किसी बुजुर्ग से पूछता था, उनसे सहज जवाब मिलता था कि वे गंदगी में रहते हैं। पर उनके गंदे रहने और गंदगी में रहकर साफ-

सफाई करने में एक गहरा रिश्ता है-इसे बुजुर्ग जोड़कर नहीं देखते थे। हालाँकि आज मैं यह सब कह रहा हूँ, किंतु उन दिनों बुजुर्गों की बात मान लेता था। उनसे तर्क करना मुनासिब नहीं समझता था। आज उस संकुचित समझ के लिए मुझे संताप होता है। इन सब के बावजूद मुझे खुशी है कि उन दिनों भी माधु से मेरी दोस्ती के लिए मुझे कोई लज्जाबोध नहीं होता था। बल्कि आज उस बचपन की स्मृति को सँवारने में मुझे गर्व हो रहा है।

कभी-कभी माधु को बुलाने मैं उसके घासीपाड़ा में जाता था। मुझे लगता था, घासीपाड़ा में मेरा जाना हमारे घर के लोगों को अच्छा नहीं लगेगे। इस आशंका से मैं इस बात को छुपा के रखता था। उस पहली कक्षा से इस तरह की आशंका मेरे मन में कैसे और कब आयी; आज याद नहीं कर पा रहा हूँ। देखा जाए तो छोटा बच्चा हमेशा अबोध और कोमलमति होता है, पर मेरी इस आशंका के पीछे स्पृश्य के भेद-भाव की मानसिकता थी जो छोटे बच्चे का स्वभाव नहीं हो सकता। शायद सामाजिक मान्यताओं को विचलित हुए बगैर मान लेना भी मेरे बचपन की वास्तविकता थी।

घासीपाड़ा था गांव से बाहर, पर गाँव से सटा हुआ। शायद वे लोग गाँव बसने के बाद आकर घासीपाड़ा में बसे थे। घासी पाड़ा और गाँव के बीच एक बड़ा सा खड्डा था जो गाँव के कूड़ेदान के रूप में इस्तेमाल होता था। पाड़ा के सारे घर छोटे-छोटे और झोपड़ीनुमा थे। उनके छत इतने नीचे थे कि माधु भी जमीन पर खड़े होकर छत छू सकता था। छोटे बच्चों को छोड़ दिया जाए तो वाकी कोई भी घर के अंदर बिना सर झुकाए घुस नहीं पाता था।

मैं जब माधु को बुलाने जाता था, मेरी आवाज सुनते ही वह घर से बाहर आ जाता था। अक्सर वह घर के बाहर ही बैठा रहता था या खेल रहा होता था, क्योंकि घर के अंदर बैठने की जगह शायद नहीं होती थी। जब वह मुझे बुलाने मेरे घर आता, दरवाजे पर ही खड़ा रहता थां वह कभी दरवाजे के अंदर नहीं आता था। मैं भी उसे अंदर नहीं बुलाता था। दोस्ती होने के बावजूद हम दोनों एक दूसरे को घर के अंदर नहीं बुलाते थे। यह हमने कब, कहाँ और किससे सीखा था, आज प्रयास करने पर भी स्मरण नहीं कर पाता हूँ। उन दिनों शिशु सुलभ स्वाभाविकता से यदि मैं माधु को अपने घर बुला लेता, बिस्तर पर बैठने को कहता, तो क्या मेरी माँ या चाची मुझे मारती-पीटती? उनकी डाँट-फटकार की परवाह किए बगैर भी तो मैं कई काम करता था। हो सकता है मेरे प्रति अपने प्यार के कारण वे मेरी बात मान भी लेते। पर ऐसा मैंने उन दिनों कभी नहीं किया। अब मुझे इस बात के लिए पछतावा होता है।

एक बार गरमी के दिनों में माधु के घर में आग लग गई। देखते ही देखते आग की लपट ने पूरे घासी पाड़ा को जला डाला। ऐसा लग रहा था मानो खलिहान में आग लगी हो। गाँव में हल्ला मच गया।

लोग साईकल में सोहेला (पास में स्थित कसबा) गये। वहाँ से पुलिस की मदद से बरगढ़ शहर में फोन करके दमकल बुलवाया गया। जब तक दममकल पहुँचती, आग बुझ चुकी थी। पता चला उस दिन माधु की माँ चूल्हे में आग लगाते वक्त चूल्हे के ऊपर कोई बर्तन बिठाना भूल गई थी। उनके पाड़ा में चूल्हे पर कोई बर्तन बिठाने के बाद ही चूल्हा जलाया जाता था। इसलिए आग की लपट छत तक पहंचु गई और देखते ही देखते आग मोहल्ले में फैल गई। आग के लगते ही पाड़ा की औरतें घड़ा, टिना, बाल्टी और देगची लेकर कुंए से पानी ढोने लगी। पुरुषों ने भी भाड़ में पानी ढोया। बड़ी मुश्किल से आग काबू में आयी।

आग बुझाने की उस भीड़-भाड़ में भी हर कोई माधु की माँ को गाली बक रहा था। उन लोगों के अनुसार माधु की माँ ने जानबूझकर पाड़ा में आग लगाया था। ऐसे में वह खलनायिका तो थी ही, साथ ही दुष्ट चरित्र भी थी।

तब माधु और मैं तीसरी कक्षा में पढ़ते थे। घासी पाड़ा में आग लगने की बात सुनकर मैं भी वहाँ गया था। माधु एक बाल्टी में कुँए से पानी ढो रहा था, उसकी दोनों छोटी बहनें भी कटोरी से कुँए के चबूतरे पर पड़ा कीचड़वाला पानी ला रही थी। उस दिन माधु किसी वयस्क आदमी से कम पानी न ढोया होगा। इस घटना के बाद जब हम दोनों मिले, उसने मुझसे एकबार भी नहीं पूछा कि मैंने क्यों उस दिन उसकी मदद नहीं की। पर क्या यह सवाल उसके मन में आया नहीं होगा? यदि हमारे घर में ऐसी कोई विपत्ति आई होती तो तो क्या वह मेरी तरह मूक दर्शक बना रहता? और यदि वह मूक दर्शक बनकर खड़ा रहता तो क्या मैं उसे बाद में ताने नहीं देता? वह क्या मेरी तरह आत्म प्रबोधना देता? मैं तो ठहरा एक छोटा बच्चा, कर भी क्या सकता था उस भीड़-भाड़ में?

आग लगने वाली बात गरमी छुट्टी के बाद स्कूल में पहुँची। गुरुजी के पूछने पर माधु ने शुरू से अंत तक जो भी हुआ, पूरी बात बताई। उसके वर्णन में कहीं भी अपनी माँ के

दोष का बोध नहीं था। उसने कहा-''छत जब इतना नीचा होगा, तब चूल्हे की लपट तो वहाँ तक पहुँचेगी ही''। आग लगने के दिन माधु का बाप घर पर नहीं था। वह किसी दूसरे गाँव में बाजा बजाने गया था। कभी-कभी दूसरे गाँव के बैंड पार्टी वाले भी उसे मजूरी देकर बाजा बजाने के लिए बुला लेते थे। वह जब घर लौटा, उसे आग के बारे में पता चला। इसके लिए उसने माधु की माँ को दोषी ठहराया और मारा भी। शिक्षक जब इस बात की पुष्टि करने बैठे, माधु ने कहा, ''यदि मेरे बाप ने माँ पर उस दिन हाथ नहीं उठाया होता तो पाड़ा के लोग उसे चैन से रहने नहीं देते। माँ जब इस बात को समझ गयी तो उसने बाप के मार को चुपचाप सह लिया।''

स्कूल जाने से पहले और लौटने के बाद माधु गाँव की गंदी जगहों में सुअर चराने जाता था। मैं जब उससे पूछता था- तू क्यों जाता है? उसका जबाब होता था-मै न जाऊँ, तो माँ को जाना पड़ेगा। इन सब के बावजूद वह प्रायः मुझसे पहले स्कूल आ जाता था। अपने बगल में मेरे बैठने के लिए जगह रख देता था। उसका रोज स्कूल आना देखकर गुरूजी उसकी काफी प्रशंसा करते थे। स्कूल आने के लिए उसके मन में इतनी तीव्र इच्छा होने के बावजूद पढ़ाई में उसकी कमजोरी के कारण वह कुछ समझ नहीं पाता था। फिर भी मुझे खुशी थी कि उससे मेरी अच्छी दोस्ती थी। हालाँकि हम दोनों हम उम्र थे, पर वह मुझसे ज्यादा ताकतवर था। पिटाई तो दूर की बात, कभी कोई ऊँची आवाज में मुझे हड़का भी देता था, तो मैं रोने लगता था। अपने स्कूल में कई सारे मेरे जैसे रोने वाले बच्चे थे। इस बात पर शिक्षक चिढ़ाते हुए कहते थे - क्या लड़कियों जैसे रोते हो? दूसरी ओर माधु था इसका ठीक उल्टा। रोना तो छोड़ो, कभी-कभार झगड़ा होने पर ऊपर क्लास के बच्चों से भी वह लड़ पड़ता था। मेरे उन प्रारंभिक दिनों में उसने कितनी बार मेरा पक्ष लिया होगा, मुझे बचाया होगा, आज उसका हिसाब रखना कठिन है। इसलिए स्कूल में उसकी कभी-कभार अनुपस्थिति से सबसे ज्यादा विचलित और चिंतित मैं ही रहता था। जिस दिन वह स्कूल न आता, उस दिन असुरक्षित और भयभीत महसूस करता था।

कभी-कभी माधु बिना कुछे खाये स्कूल आ जाता था। यह बात वह किसी को भी नहीं बताता, मुझे भी नहीं। लेकिन उसका चेहरा देखने से पता चल जाता था। मध्यावकाश के बाद उन दिनों स्कूल में बच्चों को अमेरिकन सरकार से मिलने वाला केयर खाद्य दिया जाता था। उसे सब लोग 'खाद्य' के नाम से जानते थे। वह दरअसल टूटा हुआ गेहूँ होता था, जिसे पकाने से पहले पानी में दो-तीन घंटा भिगोया जाता था। मध्यावकाश से लौटते वक्त बच्चे अपने घरों से एक-एक जलावन के टुकड़े, खाने के लिए एक कटोरा, और साथ में नमक या गुड़ ले आते थे। ज्यादातर बच्चे नमक लाते थे और कभी-कभार ही कोई गुड़ लाता। चीनी तो सपना था। हमारे घर में स्कूल में मिलने वाला 'खाद्य' खाने से मना किया जाता था।

कभी-कभी दोस्तों के साथ मिलकर खा लेता और घर में पता चल जाता तो डाँट पड़ती थी। पानी में भिगोने से पहले 'खाद्य' को साफ किया जाता था। यह दायित्व था पाँचवी कक्षा के बड़े बच्चों का। साफ करने के बावजूद भी पके हुए खाद्य में कभी-कभार कीड़े मिलते थे।

माधु बड़ी निष्ठा के साथ खाद्य खाता था। कभी किसी कारणवश सुबह खाद्य को पानी में भिगोया नहीं जाता था, तो उस दिन मध्यावकाश के बाद खाद्य नहीं मिलता। ऐसे में वह मध्यावकाश के बाद और स्कूल नहीं लौटता था । और भी कई बच्चे ऐसा करते थे। अगले दिन पूछे जाने पर कहता था कि घर पर दोपहर का खाना बनने में देर हो गई थी। अपने घर की आर्थिक स्थिति के बारे में वह कभी भी बढ़ा-चढ़ा कर नहीं बताता था। मैं भी कभी उससे पूछता न था किंतु कई बातें बिना पूछे मालूम पड़ जाती थी। इतना सब जान लेने के बाद भी मैं उसे अपने घर से खाने के लिए कुछ नहीं देता था। आज उम्र बढ़ने के बाद अपने आप से पूछता हूँ कि क्या उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचने के डर से या कंजूसीवश उसे कुछ देने से कतराता था या फिर इसके पीछे कहीं दोनों ही कारण तो नहीं थे।

उस उम्र में अपनी दोस्ती में सचेत मन से एक दूसरे की उस तरह मदद करने का शायद रिवाज नहीं था। आज जब याद करता हूँ तो पाता हूँ कि बातचीत और व्यवहार में एक दयाभाव तो रहता ही था। इसी कारण वह मेरे साथ सहज नहीं हो पाता था। यदि ऐसा नहीं होतांतो दोस्ती गहरी होती और तब वह शायद अपनी समस्या को बताने में कतराता नहीं।

यह सच है कि हमारा परिवार भी कोई अमीर न था। गाँव के हिसाब से, दो वक्त खाने को मिल जाता था। कागज और पेंसिल के लिए हमें उधार नहीं लेना पड़ता था; पहनने के लिए कपड़ा मिल जाता था। नहीं तो स्थिति ऐसी थी कि केवल मेहमानों के लिए ही घर पर चीनी की चाय बनती थी; घरवालों के लिए तो गुड़ की चाय ही बनती थी। गुड़ भी खरीदना नहीं

पड़ता था। नास्ते में ज्यादातर मूढ़ी होता था और कभी-कभार गुड़ वाला सूजी का हलवा । इसके बावजूद हम थे गाँव के माननीय परिवार। उन दिनों मैं अगर चाहता तो माधु की कई असुविधाएं दूर हो जाती और तब शायद चौथी कक्षा में ही उसकी पढ़ाई रुक नहीं जाती।

स्कूल आने की प्रबल चाह के बावजूद माधु पढ़ाई में काफी कमजोर था। इसके लिए उसे लगभग रोज शिक्षकों से डाँट-फटकार खानी पड़ती थी। आत्मसम्मान जाने के डर से पेट की भूख को छिपाने वाला माधु का आत्मसम्मान डाँट से भी आहत होती होगी, ऐसा शायद शिक्षक सोच नहीं पाते थे। पाठ से संबंधित छोटी से छोटी बातें भी उसे समझ में नहीं आती थी। इस कारण शिक्षक उसका मज़ाक उड़ाते थे। इन सबके बावजूद वह स्कूल आने में कभी कतराता नहीं था। कोई-कोई कहता था कि 'खाद्य' के लोभ से वह स्कूल जाता है। यह सुनने में मुझे अच्छा नहीं लगता था, पर मैं उन लोगों से तर्क भी नहीं कर सकता था। माधु भी कभी तर्क नहीं करता, केवल गुस्सा करता था।

उन दिनों की कितनी ही स्मृतियाँ आज टुकड़ों में मेरे मानस पटल पर उभर कर आ रही है। ऐसे देखूँ तो हर टुकड़ा एक दूसरे से अलग है फिर भी लगता है मानो हर स्मृति एक दूसरे से संबंधित है। हर क्लास में दलित बच्चों को स्कूल की तरफ से यूनीफॉर्म मिलता था। एक साल यूनीफॉर्म मिलने में काफी देरी हुई। उन दिनों माधु केवल एक हाफ पैंट पहनकर स्कूल आता था। कभी-कभी अपने पिता का बैंड पार्टी वाला बड़ा कुर्ता पहन कर आता था जो उसके घुटनों तक आता था। इस पर वह कहता था कि एक मोटा कुर्ता पहन लो तो गुरु जी की पिटाई से दर्द नहीं होता है। स्कूल के परिसर में बरसात के दिनों में कीड़े, मेढक, बिच्छू आदि आ जाते थे। उनसे हम जितना डरते थे, वे माधु से उतना ही डरते थे। तब लगता था, माधु और उसके पाड़ा के कुछ बच्चों ने शायद परिसर को सुरक्षित रखने का बीड़ा उठा रखा है।

माधु का स्कूल के प्रति लगाव और पढ़ाई में उसकी कमजोरी को देख उन दिनों मुझे बिडम्बना सी प्रतीत होती थी। आज जब पलटकर देखता हूँ, मुझे आश्चर्य नहीं होता है। उसकी पढ़ाई के आगे क्या कम बाधाएं थीं? खाने की असुविधा, पहनने को कपड़ों का अभाव, किताब का पाठ समझ में न आने पर घर और मुहल्ले में कोई समझाने वाले का नहीं होना, जात से लेकर नाम तक, हर कुछ बाधक था। केवल चाहत के बल पर कोई कितनी बाधाएं पार करेगा ? ऐसे एक बच्चे के पढ़ने के लिए, आगे बढ़ने के लिए यदि समाज की ओर से कुछ सहयोग मिलता है तो उसमें हर्ज क्या है? उसके आत्म सम्मान को ठेस पहुँचाए बगैर केवल समाज ही सहयोग और संरक्षण दे सकता है। किंतु ऐसे में एक तो व्यक्तिक सहयोग मिलना कठिन है, दूसरा लाख कोशिशों के बावजूद व्यक्तिक सहयोग में दया भाव रह ही जाएगा। यह बात दूसरों के लिए हजम करना कठिन हो जाएगा। सामाजिक न्याय और संरक्षण के पीछे दया भाव नहीं रहेगा क्योंकि समाज तो सबका है। उसी संरक्षण के बूते पर आज माधु यदि पढ़-लिख लिया होता, पढ़-लिख कर आगे बढ़ गया होता तो अपने जीवन के संघर्ष की बात को क्या खुद नहीं कहता? उसे कहने के लिए दूसरों की क्यों जरूरत पड़ती ? उस स्थिति में गहरी दोस्ती के बावजूद उससे मेरी दोस्ती टूटने का सत्य, जो आज समाज को स्वाभाविक लग रहा है, क्या वह अस्वाभाविक और कृत्रिम नहीं लगता? असहज नहीं मालूम पड़ता ?

कहानीकार का परिचय

प्रीतीश आचार्य मूलतः उड़िया लेखक हैं।
आपकी कुछ रचनाएं सामयिक वार्ता, वागर्थ, अक्षर पर्व इत्यादि में भी हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं। आपकी हिन्दी में रोशनाई प्रकाशन द्वारा हुआ है।
प्रोफेसर (इतिहास)
क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान भुवनेश्वर-151022
ई-मेलः spritishacharya0123@yahoo.co.in
मो.नंबर 9037400923

मुसलिम महिलाओं ने किया नफरत के खिलाफ बेखौफ ऐलान

पारुल शर्मा

लोकतंत्र का पर्व फिर आ पहुंचा है। पांच साल बाद होने वाले लोकसभा चुनाव की सरगर्मियां तेज हो चुकी हैं। राजनीति के गलियारों में नेता और वोटरों में भी जुगलबंदी तेज हो रही है। हर साल 18 साल के उम्र के वोटरों के जुड़ने से संख्या भी बढ़ जाती है। हर वर्ग ,धर्म, जाति, समुदाय का वोटर पिछले पांच सालों में और भी ज्यादा जागरूक और समझदार दिखाई पड़ता है । फिर महिलओं की बात ही कुछ अलग नजर आती है।

पिछले पांच साल में यदि धर्म के आधार पर देखा जाए तो देश बंटा हुआ दिखाई देता है। ऐसा मानना है मुसलिम समुदाय की महिलाओं का। बेबाक कलेक्टिव यानी निडर की आवाज के बैनर तले देश भर की महिलाएं स्त्रीवादी नजरिए से कट्टरवाद और दमनकारी ताकतों के खिलाफ लड़ रही हैं। जमीनी समूहों के साथ मिलकर काम करने वाली महिलाएं मुसलिम बहुल इलाकों में तालीम,आजीविका, औरतों पर हिंसा और सामाजिक सुरक्षा जैसे मुद्दों पर ध्यान देती हैं।

देश भर के करीब 10 राज्यों जैसेरू दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, बिहार, पश्चिम बंगाल, झारखंड, असम से आई मुसलिम महिलाओं ने प्रेस कल्ब ऑफ इंडिया में मौजूदा सरकार के खिलाफ एकजुट होकर अपनी आवाज बुलंद की । उनका मानना है कि अब जब चुनाव सिर पर है तो सरकार की नीति और नियम उनके समुदाय के प्रति कितने खोखले हैं यह दुनिया जान ले। इस के साथ ही ऐसा पहली बार हुआ है कि मुसलिम संगठन की ओर से चुनाव घोषणा पत्र भी जारी किया गया।

उत्तर प्रदेश से आई रेहाना का मानना है कि हमें मन की बात तो कहनी नहीं आती पर अब चुनाव सामने है तो लगा 'हद' पर बात करनी होगी। गोहत्या, गोरक्षा, भीड़तंत्र, शादीशुदा जोड़ों पर लव जेहाद के नाम पर हिंसा और हत्याएं बढ़ी हैं। सरकार ने क्या ऐसा होने से रोका? नहीं बल्कि हमारे समाज में राजनेताओं ने देश से निकालने का खौफ पैदा कर दिया है।

वहीं सबीना का मानना है कि मोदी और योगी की पैनी नजर हमारे वोट पर रहती है। लेकिन हमारे रहने और खाने के अधिकार पर लगातार हमला हो रहा है। योगी सरकार के आते ही गोश्त पर पाबंदी लगा दी गई। न हम खाने के रहे न कमाने के। हमारे मर्द भीड़तंत्र का शिकार हो रहे हैं। शक की बिना पर हत्याएं कितनी वाजिब हैं। हम वोट उसी को देंगे जो भीड़तंत्र के खिलाफ कानून बना सके। जो हमारे हकों को महफूज रखे। तीन तलाक कानून हमारे हक में नहीं है। सरकार इस का इस्तेमाल अपनी सुविधा के अनुसार कर के हमारे मर्दों को जेल में डाल रही है ताकि हम लोगों की जुबान पर ताले लग जाए और हमें दबाया कुचला जा सकें।

गुजरात से आईं रेशमा का दर्द महिलाओं की सेहत से होने वाले खिलवाड़ में साफ झलकता है। वे बताती हैं कि अमदाबाद से वाशी तक रासायनिक फैक्टरियां लगा दी गई हैं। जिन का कूड़ा और गंदा पानी पास की दरिया में डाल दिया जाता है जिस से चर्म और कुष्ठ रोग बढ़ रहे हैं। गंदे पानी के इस्तेमाल से महिलाओं में गर्भाशय और स्तन कैंसर जैसी गंभीर बीमारियां बढ़ रही हैं। पिछले पांच साल में बड़ौदा , शाहपुरा, अमदाबाद, जैसी जगहों पर स्वच्छता अभियान के बोर्ड तो देख सकते हैं लेकिन मुसलिम बहुल इलाके में हमें खुद सफाई करनी पड़ती है। निगम की ओर से कोई काम नहीं किया जाता। 2002 के बाद से ही पुलिस के जुर्म लगातार बढ़ रहे हैं। सांप्रदायिक दंगों पर कोई कार्रवाई नहीं होती।

पहाड़ों में पलायन की समस्या नई नहीं है। उत्तराखंड की नजमा बेगम मानती हैं कि रोजगार की कमी के कारण हमारे घरों के मर्द मैदानी इलाकों की ओर कूच कर जाते हैं। जहां हिंसा का शिकार होते हैं। वे सरकार से पूछती हैं कि हमारे बच्चों की जिम्मेदारी किस की है? जातिगत असुरक्षा का माहौल पिछले चार-पांच साल में बढ़ गया है। वे मानती हैं कि हमारा घर है भारत। कश्मीर से बच्चे हमारे उत्तराखंड के कॉलेजों में पढ़ने आते हैं तो उनको भी जातिगत हिंसा का शिकार होना पड़ रहा है। इस तरह की हिंसा के खिलाफ सरकार ने कोई ठोस कदम क्यों नहीं उठाए हैं? फिर क्यों हम से वोट की उम्मीद करती हैं राजनीतिक पार्टियां?

असम में तो मुसलिम महिलाओं की स्थिति बहुत ही बदतर है। नागरिक अधिकार के नाम पर पुलिस प्रताड़ित करती है। 1971 से असम में रहने वालों का राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर में नाम ही दर्ज नहीं किया जाता। महिलाओं से कहा जाता है कि शादी अगर रजिस्टर नहीं की है तो तुम भारत के नागरिक नहीं हो। मुसलिम महिलाएं अनपढ़ हैं। उनका न तो वोटर कार्ड ही बनाते हैं और विदेशी ,बंग्लादेशी बोल कर पुलिस सताती है। हमारे मर्दों के पास अगर नागरिकता का कोई प्रमाण पत्र नहीं होता तो उन के नाम के आगे (डी) यानी डिफालटर लिख दिया जाता है। जिससे पुलिस का नोटिस आ जाता है और प्रताड़ित लोग आत्महत्या तक कर लेते हैं।

बिहार की राजनीति में जोड़ तोड़' की नीतियां हावी रहती हैं। वहां महिलाओं का इस्तेमाल करने के लिए नेताओं को धर्म और जाति भी कम पड़ जाती है। यदि समाज में मुसलमान नेताओं की कुटिल चालों का साथ नहीं देते तो चैन से जीने नहीं दिया जाता है। सीमांचल जिले जैसे पूर्णिया, अरैया आदि में बंग्लादेशी मुसलमानों की कई पुश्तें रह रही हैं। लेकिन नागरिकता के नाम, पर दोहरा रवैया अपना रही है सरकार। बेटी पढ़ाओ, बेटी बचाओं केवल नामभर है। हमारी समुदाय की महिलाएं शिक्षा से कोसों दूर हैं। चुनाव के समय पार्टियां पॉवर पॉलिटिक्स करने लगती हैं। हम ऐसी सरकार को वोट देंगी जो सच्चर समिति की सिफारिशों को लागू करे। धर्म के नाम पर फसाद बंद कराए। ---------

पश्चिम बंगाल से आई नरगिस का मन इस बात से दुखी होता है कि स्कूल में पहले हिंदू-मुसलिम सब साथ पढ़ने जाते थे पर अब माहौल खराब हो रहा है। सोशल मीडिया में खबरें देख कर डर पैदा हो रहा है। महिलाओं का शोषण आम बात है। सामाजकि सुरक्षा के नाम पर पुलिस और प्रशासन किसी की नहीं सुनती। राज्य सरकार केंद्र पर दोष लगाती है। राजनीति और सामाजिक मुद्दों पर महिलाओं को बोलने की आजादी नहीं है। जिसका कारण अशिक्षा है। इतिहास बताता है कि यहां मुसलिम महिलाएं काफी जागरूक थी पर देश की राजनीति का शिकार हो रही हैं।

मध्य प्रदेश से आईं सबा खान का मानना है कि फासीगाद से महिलाओं को दबाने की कोशिश हो रही है। राज्यभर में खौफ का माहौल है। गरीब और वंचित मुसलमानों को आतंकवादी के तौर पर पेश किया जा रहा है। बेरोजगारी और बोलने की आजादी पर पाबंदी लगा दी गई है। मोदी सरकार ने तीन तलाक कानून बहुत जल्दबाजी में बनाया है। जिस का खमियाजा हमारा समाज भुगत रहा है।

दिल्ली की हलिया सीमापुरी में अपने समुदाय की लड़कियों को पढ़ाने का प्रयास कर रही हैं। वे हैरान होकर कहती हैं कि मेरे मोहल्ले में बहुत सी लड़कियां हैं लेकिन स्कूल नहीं जाती। जो जाती भी हैं कुछ साल बाद पढ़ाई छोड़ देती हैं। सरकार ने कोई शिक्षा के लिए नीति बनाई है ,इस की जानकारी तो उनको नहीं है पर स्कूलों में त्योहारों को मनाने की दोहरी नीति से वह आहत दिखाई देती हैं। उनका मानना है कि राखी, होली, दिवाली तो टीचर मनवाते हैं पर ईद पर सिर्फ छुट्टी दे कर काम खत्म। मुसलिम महिलाएं भी भारत का हिस्सा है। यदि वह बोट दे सकती हैं तो अपने अधिकारों के लिए भी बोलना जानती हैं।

म्ासूमा वोरा समुदाय से आती हैं। मुसलिम समाज में 7 साल की बच्चियों का खतना किया जा रहा है। जोकि मानवाधिकार के खिलाफ है। मासूमा कहती हैं कि ऐसा करने से उनकी सेहत पर बुरा असर पड़ता है। हर बार जो सरकार आती है वह महिलाओं के स्वास्थ्य की बात करती है पर मासूमों पर होने वाले जुल्मों पर ध्यान नहीं देती।

देशभर से आईं इन मुसलिम महिलाओं का कुल मिलाकर दर्द एक जैसा है। सरकार से बात करने की कोई सूरत नजर नहीं आती। देश का नागरिक होते हुए भी हिंसा, अपराध, मारपीट ,यौन उत्पीड़न और हादसों के मामले इस समुदाय के प्रति बढ़ रहे हैं। पुलिस , प्रशासन और राजनेता के पास शिकायत बेकार की कवायद ही है।

इसलिए सबने मिल कर तय किया है कि चुनाव में वोट का सही इस्तेमाल करेंगी और अपने हकों के लिए एकजुट होकर आवाज बुलंद करती रहेंगी।

साझा घोषणा पत्र में जाहिर मुख्य बातें –

1. मुसलमानों को शैक्षिक पहुंच और समर्थन का अभाव रू 2005 से 2014 के बीच की कई राष्ट्रीय और राज्य स्तरीय रिपोर्ट में समुदाय की साक्षरता दर काफी कम है। सर्व शिक्षा अभियान का फायदा नही हुआ।
2. सच्चर समिति की सिफारिशें जिसमें मुसलिम छात्रों को पहले और बाद की मैट्रिक छात्रवृत्ति लागू करने का दावा था जाहिर तौर पर गलत है क्योंकि कई राज्यों ने मुसलमानों के लिए लागू ही नहीं की।

3. अलग-अलग मुसलिम इलाकों में पुलिस की गश्त ।
4. गोमांस पर प्रतिबंध और भेजन की राजनीति।
5. एंटी रोमियों दस्तों ने युवाओं की आजादी पर रोक लगाई।
6. यौन उत्पाड़न से निपटने के लिए अपर्याप्त तंत्र।
7. समान नागरिक संहिता में लैंगिक न्याय का अभाव।
8. मुसलिम महिला (निकाह के हकों का संरक्षण) फरमान, 2019 : तीन तलाक पर जेल का फरमान बेमेल सजा है।
9. महिला जननांगों का खतना करना तुरंत बंद हो।
10. मुसलिम महिलाएं और स्वास्थ्य ।
11. घरेलू हिंसा में महिलाओं का संरक्षण अधिनियम,2005।
12. मौत की सजा - इस को बदलना होगा।
13. धमार्तरंण विरोधी कानून रू. अल्पसंख्यकों के प्रति भेदभाव को बढ़ावा ।
14. नागरिक संशोधन बिल,2016 रूधर्म के आधार पर नागरिकता को परिभाषित करता है।
15. मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों के लिए बजट में भेदभाव।
16. अल्पसंख्यक मामलों के मंत्रालय द्वारा बजटीय निधि का इस्तेमाल।

नीति आयोग एक्शन एजंड़ा (2017) सहित कई शोध अध्ययनों में अल्पसंख्यों के लिए बनाई गई नीतियों में अनेक खामियां पाई गई है ।

17. संसद में महिलाओं का राजनीतिक प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिए महिलाओं के लिए 33 फीसद आरक्षण ।
17. मी टू अभियान के तहत संशोधन।
18. एकल जीवन व्यतीत करने वाली महिलाओं को राज्य से मदद मिले।
19. मुसलमानों को उच्च शिक्षा और सरकारी नौकरियों में 10 फीसद आरक्षण ।
20. सर्वाजनिक सेवाओं में जाति, लिंग, धर्म, व्यवसाय और विशेष क्षमताओं के आधार पर भेदभाव के खिलाफ एक भेदभाव -विरोधी कानून पारित किया जाना चाहिए।

(वरिष्ठ पत्रकार)

अगस्त क्रांति के स्वर्णिम अध्याय का पटाक्षेप हो गया

नवीन

30 नवम्बर' 2018 को अगस्त क्रांति के अग्रदूतों में एक सीताराम सिंह का सौ वर्ष की आयु में हाजीपुर में निधन हो गया। 1857 के गदर के बाद तीन महत्वपूर्ण और निर्णायक चरण राष्ट्रीय आन्दोलन के हैं। पहला लाहौर षड़यंत्र केस, जिसमें शहीदे आजम भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरू को फाँसी की सजा हुई थी। दूसरा मास्टर सूर्यसेन के नेतृत्व में हुआ चट्टगाँव के शस्त्रागार पर उनके सुप्रशिक्षित साठ शिष्यों ने धावा बोल कर कब्जा कर लिया था। जलालाबागद की पहाड़ी पर ब्रिटिश फौज के साथ भीषण संग्राम हुआ था, जिसमें 12 किशोर क्रांतिकारी शहीद हुए थे। तीसरा अगस्त क्रांति है। 8 अगस्त '1942 को महात्मा गाँधी ने मुम्बई में 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' और 'करो या मरो' का नारा दिया था। उसी दिन गाँधी समेत तमाम दिग्गज कांग्रेसी नेता बंदी बना लिए गये थे। युवा समाजवादी नेताओं– जयप्रकाश नारायण, डा. राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्द्धन, अरुणा आसफअली और दीगर क्रांतिकारियों ने इसे राष्ट्रव्यापी बनाया था। इसी क्रांति का नतीजा था कि महाराष्ट्र का सतारा, उत्तर प्रदेशका बलिया और बंगाल का तामलुक कुछ अरसे के लिए ब्रिटिश दासता से मुक्त हो गया था।

इसी अगस्त क्रांति के अग्रणी सेनानी सीताराम सिंह जी थे। यूँ तो असंख्य स्वाधीनता सेनानी हुए मगर कुछ विशेष कांडों/वारदातों के लिए सदैव स्मरणीय बने रहेंगे। सीताराम सिंह इसी विशेष कोटि में आते हैं।

सीताराम सिंह, हाजीपुर जिला स्थित कुशहर खास गाँव के निवासी थे। हाजीपुर के संदर्भ में जिक्र करना अवांतर लेकिन प्रासंगिक है कि बांग्ला देश के राष्ट्रकवि नजरूल इस्लाम के पुरखों की यह धरती है। फणीन्द्र घोष की मुखबिरी से शहीद भगत सिंह को फाँसी की सजा मिली थी। हाजीपुर के ही बैकुन्ठ शुक्ल ने फणीन्द्र घोष की हत्या करके

फाँसी की सजा पायी थी। भगत सिंह ने कुछ अरसे तक हाजीपुर में गुप्त प्रवास भी किया था। हाजीपुर के ही योगेन्द्र शुक्ल, बसावन सिंह व किशोरी प्रसन्न सिंह भगत सिंह के सक्रिय सहयोगी थे।

सीताराम सिंह की गिरफ्तारी 11 अगस्त '1942 को ही हो गयी थी। 14.8.42 को बाहरी व भीतरी शक्ति की मदद से जेल तोड़ कर सीताराम सिंह व दूसरे क्रांतिकारी बाहर आ गये थे। ब्रिटिश दमन भी बेतहाशा बढ़गया था। जयप्रकाश नारायण के निर्देश पर 'आजाद दस्ता' का गठन किया गया था। सीताराम सिंह आजाद दस्ता में शामिल हो गये थे। सेना से बगावत करके भागे नित्यानंद सिंह आजाद दस्ता के सेनानियों को नेपाल के जंगल में ''सैन्य प्रशिक्षण'' दे रहे थे। उसी ट्रेनिंग कैम्प का निरीक्षण करने जयप्रकाश नारायण और राममनोहर लोहिया नेपाल आ रहे थे। खुफिया विभाग ने इन क्रांतिकारियों का पता लगा लिया था। जब ये दोनों सूखी हुई मोरंग नदी को पार कर रहे थे तो नेपाली कर्नल द्वारा गिरफ्तार कर लिए गये। जे.पी. और लोहिया को नेपाल के हनुमान नगर जेल में डाल दिया गया था। ब्रिटिश हुकूमत ने जे.पी. और लोहिया को पकड़ने के लिए भारी रकम इनाम के रूप में घोषणा की थी। गिरफ्तारी की सूचना गुलाबचन्द्र गुलाली उर्फ गुलाली सोनार (जो भगत सिंह और चन्द्रशेखर आजाद के भी साथी थे) ने कैम्प में पहुँचायी – साहेब गिरफ्तार हो गये। साहेब, जयप्रकाश जी का छद्म नाम था। तकरीबन 25 की संख्या में आजाद दस्ता के सेनानियों ने हनुमान नगर जेल की ओर कूच करने का निर्णय लिया। करीब 20 मील की दूरी पर कैम्प से हनुमान गनर जेल था। 23 मई '1943 की सुबह इन 25 युवा क्रांतिकारियों का जत्था सूरज नारायण सिंह (जे.पी. को हजारीबाग जेल से भगाने में भी इनकी अहम् भूमिका थी, जे.पी. के हनुमान के रूप में विश्रुत सूरज बाबू को कांग्रेसी हुकूमत में राँची में उषा मार्टिन के मजदूरों के पक्ष में अनशन कर रहे सत्ताधारी गुंडों ने वर्वर हमला करके मार डाला था) के नेतृत्व में चला। पाँच सेर मिश्री (जमाई हुई चीनी) ही इन लोगों का पाथेय था। दलबहादुर सिंह मार्गदर्शक थे। पूरा दिन और आधी रात पैदल सफर करके लगभग डेढ़बजे रात ये लोग हनुमान नगर जेल पहुँचे। काँटे वाली तार को कम्बल बिछा कर काँटा गया। ध्यान बँटाने के लिए सरकारी गोदाम में आग लगा दिया गया। जेल के मुख्य द्वार पर सूरज नारायण सिंह और गुलाली सोनार थे। दूसरे गेट पर सीताराम सिंह, बेचन शर्मा व अमीर सिंह थे। इसी बीत इन लोगों ने हमला बोल दिया। दो-तीन संतरी मारे गये। सीताराम सिंह ने दो बूंदूकें छीनीं। एक गोली सीताराम सिंह के बाये पाँव को छेदते हुए निकल गयी। गोलीबारी में पहले ही निकल आये जयप्रकाश जी। डॉ. लोहिया गोलीबारी के बीच अपना चश्मा ढूँढ़रहे थे। इससे कुद्र्ध होकर पटना के देवी सिंह ने लोहिया को एक धौल जमाया। डा. लोहिया ने सहज भाव से कहा था, ''हमको क्यों मारते हो, हम तो चश्मा ढूँढ़रहे हैं।''

इस तरह सुरक्षित जे.पी. और लोहिया को निकाला गया। जयप्रकाश जी से चला नहीं जा रहा था। एक बारात जा रही थी, जिसमें दूल्हा घोड़ा पर सवार था। घोड़ा छीन कर जयप्रकाश जी को उस पर बिठाया गया। जे.पी. और लोहिया अलग-अलग दिशा में निकले।

वहाँ से भागने के क्रम में सीतामढ़ी के माधोपुर गाँव में सीताराम सिंह और श्याम नन्दन सिंह पकड़े गये। भीड़ द्वारा सीताराम सिंह के ऊपर भाले से हमला किया गया, जो इनकी दायीं छाती में लगा। लाठी-डंडा से पिटायी की गयी। गिरफ्तार कर के मुज़फ्फरपुर जेल में रखा गया। बाईस वर्ष तीन माह की सजा हुई। बाद में सीताराम सिंह, श्यामनंदन सिंह, नारायण सिंह और अमीर सिंह को क्रिमिनल जेल बक्सर भेज दिया गया। इनके टिकट पर लिख दिया गया– डेंजरस एण्ड डेस्परेट/राजनैतिक बंदी का दर्जा पाने के लिए इन लोगों ने बक्सर जेल में अनशन शुरू कर दिया था। बिहार के प्रथम मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिंह और अनुग्रह नारायण सिंह के विशेष आग्रह पर इन (सात लोग अनशन पर थे) लोगों ने अनशन खतम किया था। कुल 45 दिनों तक अनशन चला था। दुर्भाग्य से उसी रात श्यामनंदन सिंह की मृत्यु हो गयी। इसके बाद इन लोगों को हजारीबाग जेल भेज दिया गया।

आजादी के बाद सीताराम सिंह डा. लोहिया के नेतृत्व वाली सोशलिस्ट पार्टी से जुड़े। आजादी के बाद भी सीताराम सिंह किसान-मजदूरों-छात्रों की लड़ाई लड़ते हुए बार-बार कारावास गये। बिहार आन्दोलन में भी सीताराम सिंह ने सक्रिय भाग लिया था। 1970-1976 तक सीताराम सिंह राज्य सभा के सदस्य भी थे।

18 मई '2018 को सीताराम सिंह शताब्दी वर्ष में प्रवेश कर गये थे। समाजवादी जनपरिषद् बिहार प्रदेश में उस दिन हाजीपुर के गाँधी-पुस्तकालय सभागार, गाँधी आश्रम में उनका नागरिक अभिनन्दन किया। विश्रुत समाजवादी लेखक– विचारक सच्चिदानन्द सिन्हा ने विशेष आभार वक्तव्य दिया था। प्रदेश अध्यक्ष डा. संतु भाई संत की अध्यक्षता व नीरज के कुशल संचालन में करीब तीन सौ लोगों की उपस्थिति थी।

कायदे से कृतज्ञ राष्ट्र – समाज को सीताराम सिंह जी की जन्म-शती विस्तृत फलक पर मनानी चाहिए थी। ऊपर हमने चट्टगाँव शस्त्रागार कांड की चर्चा की है। 2010 में उस कांड के अभियुक्त विनोद बिहारी चौधरी का शताब्दी वर्ष इस्लामिक राजधर्म वाले बांग्ला देश ने नोबुल पुरस्कार विजेता मो. युनुस की सदारत में धूम-धाम से राजकीय तौर पर मनाया था। धर्मनिरपेक्ष भारत को पड़ोसी बांग्ला देश से सीखना चाहिए था। अलबत्ता, इतना अवश्य हुआ कि शताब्दी समारोह की खबर छपी तो ठीक अगले दिन बिहार के तत्कालीन राज्यपाल सत्यपाल मल्लिक ने सीताराम सिंह से मुलाकात की और खोज-खबर ली। दूसरे राजनैतिक दलों ने भी बाद में सुधि ली।

अगस्त क्रांति का मूल्यांकन समग्रता में अभी तक नहीं हुआ है। लाहौर षड़यंत्र केस के अभियुक्त शहीदे आजम भगत सिंह पर कई फिल्में बन चुकी है। जहाँ तक मुझे स्मरण है, पहली फिल्म के नायक शम्मी कपूर, दूसरी फिल्म मनोज कुमार की शहीद, तीसरी अजय देवगन की The Legend of Bhagat singh. चौथी बॉवी देवल और पाँचवीं सोनूसूद अभिनीत फिल्में हैं। सच्चिदानंद सिन्हा ने विशेष आभार वक्तव्य में सही ही कहा था, ''सीताराम सिंह वीरता में भगत सिंह के समकक्ष हैं, फर्क ही है कि भगत सिंह को फाँसी मिली और सीताराम सिंह जी को लम्बा यातनापूर्ण कारावास।''

चट्टगाँव शस्त्रागार कांड पर भी दो फिल्में बनी हैं। अभिषेक बच्चन और दीपिका पाटुकोण अभिनीत 'खेलें हम जी-जान से' फिल्म है। दूसरी फिल्म चट्टगाँव है। इसे नासा के वैज्ञानिक वेदव्रत पेन ने बनाया है। वेदव्रत पेन से किसी नौजवान से मास्टरदा के बारे में दरयाफ्त किया तो वह बगल झाँकने लगा था। इस घटना ने वेदव्रत पेन को आहत कर दिया। उन्होंने नासा की शानदार नौकरी छोड़ दी और चट्टगाँव फिल्म बनाई। यह देश और समय काल का दुर्भाग्य है कि ये फिल्में कब आयी और कब गयी— किसी को खबर तक न हुई।

1942 की क्रांति पर कोई फिल्म नहीं बनी है। आजादी पूर्व का यह निर्णायक मुक्ति संग्राम उपेक्षित रहा। जबकि बिहार से कई नामचीन फिल्मकार हुए हैं।

सीताराम सिंह आखिरी समय तक समाजवादी मूल्यों के प्रति समर्पित रहे। शरीर पर किसी तरह का गंडा-ताबीज या ग्रह शमन विषयक किसी तरह की अंगूठी नहीं दिखी। भाजपा की फासीवादी नीतियों के वह मुखर आलोचक थे। उनकी छोटी बेटी प्रो. अर्पणा सुमन ने मुखाग्नि दी। मरणोपरान्त राजकीय सम्मान दिया गया। श्राद्ध कर्म में मुख्य मंत्री पूरे लाव-लश्कर के साथ शामिल हुए। सीताराम सिंह के ऊपर एक किताब छपी है, राज्य-सभा में सीताराम सिंह। सीताराम जी इस किताब का विमोचन मुख्य मंत्री नीतीश कुमार से करवाना चाहते थे। मगर इसके लिए मुख्यमंत्री जी के पास वक्त ही नहीं था। लालू प्रसाद यादव के ज्येष्ठ साहेबजादे तेजप्रताप यादव सीताराम सिंह के स्थानीय विधायक हैं। तेजप्रताप यादव तो सीताराम सिंह जी का नाम भी शायद ही जानते हों। सीताराम सिंह के सांसद रामविलास पासवान हैं। विधायक और सांसद की गैर हाजिरी चर्चा का सबब रहा।

<u>पुस्तक समीक्षा</u>

चार्वाक के वारिस- सुभाष गाताडे

डॉ० महेश विक्रम

चार्वाक क्यों! भारत के प्राचीन काल में एक असंगत और विभेदपूर्ण सामाजिक-धार्मिक दर्शन के विरुद्ध द्रोह के प्रतिनिधि और वर्तमान में झूठ और पाखंड की व्यवस्था को आरोपित करने वाली राजनीतिक-सामाजिक शक्तियों के विरोध में स्वर उठाने वाले उनके (चार्वाक के) वारिस! इससे खूबसूरत किसी और शीर्षक से शायद ही उस मन्तव्य का खुलासा हो पाता जो सुभाष गाताडे ने अपने निबंधों के इस अद्भुत संकलन के माध्यम से रखना चाहा है। मैंने जब इसे उठाया तो एक सुर से पढ़ता चला गया, आदि से अंत तक। अपने उन सभी प्रबुद्ध संपर्कियों को इसे पढ़ लेने की सलाह भी दी जिन्हें हमारे अतीत और वर्तमान की संगतियों और विसंगतियों को जानने समझने की जरा भी रुचि रहती है, खास तौर से वह जो वर्तमान में चल रही फासीवादी तानाशाही में एक लाचारी भरी घुटन महसूस करते हों!

कुल चार भागों में वर्गीकृत निबंधों तथा सात परिशिष्टों से युक्त इस पुस्तक का कथ्य और सारतत्व मोटे तौर पर एक

ओर आज हमारे देश में राष्ट्रवाद के धोखे से हिन्दू पुनरोत्थान की भौंडी कोशिश में बेधड़क प्रचारित और प्रचलित अंधश्रद्धा, अंधविश्वास, सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों, काला जादू और चमत्कारी बाबाओं का बोलबाला और उसे मिलने वाले राजनीतिक शैक्षणिक संरक्षण का हवाला देते हुए उस सबको दैवी निर्देशों के रूप में स्वीकार करने का दुराग्रह और स्वयं को विश्वगुरु समझने की आत्ममुग्धता से पैदा हुए पाखंडों और विरोधाभासों का विश्लेषण है, तो दूसरी ओर इस बात का भी खुलासा है कि हमारे ही अपने अतीत में ब्राह्मणवादी वर्ण-जाति व्यवस्था के विरुद्ध किस किस प्रकार के मानवतावादी, अधिक वैज्ञानिक और तर्कवादी सामाजिक-धार्मिक दर्शनों और आंदोलनों का प्रादुर्भाव होता रहा था। उन्हें तथा भौतिक कसौटियों पर मानव व्यवहार को कसने वाले सुश्रुत और चरक के आयुर्वेद और नक्षत्र विज्ञान से संबन्धित आर्यभट्ट की नितांत वैज्ञानिक पद्धतियों को किस प्रकार प्रतिक्रियावादी और स्वार्थी पौरोहित्य समर्थित सामंतवादी व्यवस्थाओं ने दबा देने या तिरस्कृत करने के साथ ही किस प्रकार की भौंडी नकलों, उन्मेलनों, घाल-मेलों, समझौतों और ब्राहमनीकरण के द्वारा अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने का काम किया, जिसका परिणाम कालांतर में व्याप्त मूर्खतापूर्ण अहमन्य सामाजिक संकृति में देखने को मिला।

इसी क्रम में लेखक ने आधुनिक काल में देश के पुनर्जागरण की भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानंद और महात्मा ज्योतिबा फुले की चर्चा की है और एक वास्तविक सामाजिक क्रांतिकारी के रूप में महात्मा फुले, उनके 'सत्यशोधक समाज' और उनकी धर्मपत्नी सावित्रीबाई फुले और उनकी सखी फातिमा शेख के कार्यों को रेखांकित किया है जिन्हे वस्तुतः यह पुस्तक समर्पित भी है। पुनर्जागरण और देश की आजादी की लड़ाई में पुनर्जीवित होते रहे तर्कवाद और विज्ञानवाद की पुनर्स्थापना के साथ ही प्रमुखतः गांधी, नेहरू, पटेल और अंबेडकर के संघर्षों और प्रयासों का ही परिणाम था कि आजाद भारत को एक बहुलतावादी धर्मनिरपेक्ष जनतान्त्रिक संविधान प्राप्त हुआ जिसमें वंचितों और अल्पसंख्यकों की सुरक्षा और स्वतन्त्रता की व्यवस्थाएं स्वीकार्य हुईं।

इस पुस्तक के मन्तव्य में वास्तव में लेखक की यह चिंता ही निहित है कि फिर आज कैसे इस जनतंत्र में उन हिन्दू प्रतिक्रियावादी ताकतों को बहुलतावाद को बहुसंख्यकवाद में परिणत करने का मौका हासिल हुआ है और वे रैदास और अंबेडकर की अपनी हिंदुवादी छवि गढ़ने और हिन्दू धर्म में दलितों जैसी कोई दयनीयता न मानने और स्वयं को उनका हिमायती बताने और उनकी वंचनाओं के लिए असल में इस्लामी शासन को जिम्मेदार ठहराने और उन्हें अपने साथ मुसलमानों के विरुद्ध लामबंद करने के सुनियोजित षडयंत्र में लगी हैं! इन परिस्थितियों के मद्देनजर लेखक ने अपने वैचारिक आग्रह के साथ वाम आंदोलन की चुनौतियों का संदर्भ लेते हुए वर्ग संगठन और संघर्ष के सामने सामाजिक पहचानों के बने रहने के संकट के यथार्थ को स्वीकारने की बात भी कही है और सामाजिक पहचानो को अलग से भी संबोधित करने की आवश्यकता बताई है।

गाताडे ने पुस्तक के चौथे और अंतिम वर्ग में 'रोशनी के बीज बोने का माद्दा' से अंधविश्वासों के खिलाफ जेहाद छेड्ने वाले डॉ॰ नरेन्द्र दाभोलकर और उनके संगठन और इस विषय पर उनकी तीन पुस्तकों की विस्तृत चर्चा की है। बताया है कि अपने अभियान के द्वारा उन्होने काला जादू, भूत-प्रेत, टोना-टोटका, बाबाओं आदि के पर्दाफाश के साथ ही समूचे धार्मिक पाखंड पर चोट की और इसी कारण प्रतिक्रियावादियों ने उनकी हत्या तक कर डाली। परंतु यह भी शुभ संकेत है कि उनके बलिदान के बाद न केवल उनकी पुस्तकों कि मांग में बड़ा इजाफा हुआ बल्कि उनके संगठन से जुड़ने वालों कि संख्या भी बढ़ी। उनके आन्दोलन के दबाव में ही कर्नाटक और महाराष्ट्र सरकारों ने काला जादू जैसे व्यवहारों के विरुद्ध कानून पारित किए।

पुस्तक की विवेचना में कुछ बातों पर ध्यान जरूर जाता है।

गाताडे ने वंचितों या पीड़ितों के अपने विवेचन में यथासंभव दलित और अल्पसंख्यक के साथ ही स्त्रियाँ का भी संदर्भ लिया है। इस एक रुचिकर तथ्य की ओर भी इशारा किया है कि हमारे वैज्ञानिक और आधुनिक ज्ञान विज्ञान पढे लोग भी धर्म और संस्कृति के व्यवहार में अनपढ़ों जैसा ही आचरण करते दिखाई देते हैं और संस्कृति पर गर्व जैसे मामले में श्रेष्ठ जन की आत्ममुग्धता के साथ ही आमजन भी भुलावे का शिकार बना होता है।

जहां तक जाति के उद्गम या निर्माण की बात है इस बात को समझना भी जरूरी होगा कि हमारे समाज के कोढ़ जैसी इस संरचना की स्वीकार्यता के पीछे कौन कौन सी

परिस्थितियाँ और विधियाँ कारक बनीं जो इसे दैवी मान्यता प्राप्त हो गयी जो स्वयं जनमानस में पैठा दी गईं। लेखक द्वारा अंबेडकर की दृष्टि से अछूतों की उत्पत्ति को बौद्धों और गोमांस भक्षकों के प्रति ब्राह्मणो की घृणा के रूप में सरलीकृत किए जाने मात्र से इसकी गुत्थियों को पूरा समझना शायद संभव शायद न हो! इसके लिए इसके प्रतिपादकों और प्रतिस्थापकों के इस विषय में स्वयं अपने क्या गुण थे या उनकी ऐसी सामर्थ्य कैसे बनी कि वह अपनी विधि को दूसरों पर आरोपित कर सके! यह जानना इसलिए जरूरी है कि ब्राह्मण पुरोहितवाद और उनके साझेदारों को इसके लिए जिम्मेदार ठहरा देने मात्र से इसके विरुद्ध वंचितों को लामबंद तो किया जा सकता है लेकिन शत्रु और उसके मायाजाल को सही मायने में पराजित तभी किया जा सकता है जब उसकी ताकत के स्रोतों की सही समझ बनी हो और उससे लड़ने की सही रणनीति बनाई जा सके! इसी संदर्भ में यह जानना भी जरूरी होगा कि वंचित तबकों की अपनी पृष्ठभूमि या लाचारियाँ क्या रही होंगी जिसने इस अन्यायपूर्ण और विसंगत व्यवस्था को आरोपित होने दिया और लागू रखा। मैंने इस बहस को अपनी पुस्तक 'भारत की पुनर्खोज' में विस्तार से रखा है।

लेखक ने भारत की प्राचीन तर्कवादी परंपरा के संदर्भ में जिन दार्शनिकों और दर्शनों का नाम लिया है यथा, कणाद, अजित, कपिल तथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य, चार्वाक, लोकायत और जिनके काल कवलित होने, आध्यात्मिक कलेवर ओढ़ लेने अथवा लुप्त या तिरस्कृत कर दिये जाने या ब्राह्मणीय दर्शनों में रूपांतरित हो जाने की बात कही है। इस संदर्भ में आण्विक्षकी और लोकायत की अलग से चर्चा कहीं और उपयोगी हो सकती थी जिससे संबन्धित महान ग्रंथ है कौटिल्य का अर्थशास्त्र। जिसे बाद के दौर में कलिवर्ज्य घोषित कर इसका पठन पाठन बंद कर दिया गया और इसे एक धूर्त शास्त्र के रूप में देखा जाने लगा। इसका लेखक कौटिल्य से कुटिल हो गया। वैसे तो कौटिल्य ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था का ही समर्थक था तो फिर उसके ग्रंथ में ऐसा क्या था जो परंपरावादी या रूढ़िवादियों के लिए चिंता का विषय बना! वस्तुतः यह ग्रंथ राज्य-व्यवस्था के संचालन से संबन्धित था जिसका आधार कौटिल्य के अनुसार अर्थ होता है और राज्य की शक्ति के लिए अर्थोपार्जन के लिए उसने राज्य समाजवाद के अनुरूप अनेक व्यावहारिक नैतिक व्यवस्थाओं के साथ ही कुछ अनैतिक युक्तियाँ भी बताई थीं जो प्रचलित धार्मिक विश्वासों के प्रतिकूल थीं। यद्यपि उसने यह भी स्पष्ट किया था की अंततः प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण है और प्रजाहित सर्वोपरि है। दूसरे साम्राज्य की शक्ति के लिए उसे सभी अंचलों की प्रजा के समर्थन की भी फिक्र थी और उसकी सामाजिक नीति धर्मशास्त्रीय निर्देशों से भिन्न थी, जैसे उसका निर्देश है कि राजा को विजित क्षेत्रों के लोगों की संस्कृति और धर्म की इज्जत करनी चाहिए (अर्थशास्त्र,3॰5॰1)। इसीलिए उसने यह भी कहा कि जब धर्म, व्यवहार/परंपरा, चरित्र और राज्य शासन के बीच फैसला करना हो तो राज्य शासन ही स्वीकार होगा। (धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्र राजशासनम। विवादार्थश्चतुषादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥ ....राज्ञामाज्ञा तु शासनम॥ -अर्थ॰ 3.1.45)। अच्छा होता यदि लेखक ने कालानुसार उन राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों की भी थोड़ी चर्चा कर दी होती तो यह और स्पष्ट हो जाता कि क्यों हमारे देश ही नहीं दुनिया के सर्वाधिक श्रेष्ठ सम्राट अशोक को इस देश ने भुला दिया। कैसे बुद्ध बुद्धू हो गए या उन्हे विष्णु का नवा अवतार घोषित कर देश के विधर्मियों, नास्तिकों और अपराधियों (लुब्बे लुबाब ब्राह्मण धर्म के आलोचक श्रमणों) को समाज से बाहर जंगल में ले जाने वाले मुक्तिदाता का दर्जा दे दिया गया और फिर उनका धर्म खुद ही देश से बाहर ढकेल दिया गया! यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि प्रमुखतः ब्राह्मणो को भूदान और ग्राम-दान की प्रथा से निर्मित सामंतवादी व्यवस्था और बंद अर्थव्यवस्था ही सामाजिक गतिशीलता और वैचारिक स्वतन्त्रता/प्रच्छन्नता की संभावनाओं को पूरी तरह समाप्त करने के लिए उत्तरदाई रही। इन्हीं परिस्थितियों में आदि गुरु शंकर के पीछे चलने वाली राजा सुधन्वा की सेना ने जगह जगह से श्रमणों, नास्तिकों और चारवाकों को खदेड़ने का भी कार्य किया (माधव कृत 'शंकर दिग्विजय', सर्ग 15/1ः अथ शिष्यवराइर्युतः सहसैरनुयातः सुघन्वना च राजा।)।

एक अन्य समस्या की ओर ध्यान दिलाना भी आवश्यक होगा जिसकी पर्याप्त चर्चा लेखक ने की भी है। वह यह कि धर्मों, विशेषतः हिन्दू धर्म के नैतिक पक्षों से इतर अंधश्रद्धा और अंधविश्वासों से जुड़े अनेक व्यवहार और कर्मकाण्ड धर्म के नाम से इस प्रकार घुले मिले रहते हैं जिनका दैवी निर्देशों या अपेक्षाओं के रूप में अनुपालन होता रहता है। उन्हें चुनौती

देना धर्म को ही चुनौती देना लगता रहा है, विशेष रूप से असहिष्णुता और अतार्किकता के वर्तमान दौर में! हमारा संविधान भी जहां एक ओर वैज्ञानिक और तार्किक समतावादी समाज के निर्माण की अपेक्षा रखता है वहीं धार्मिक व्यवहारों की स्वतन्त्रता और उन पर दूसरों द्वारा टिप्पणि की जाने का निषेध रूढ़िवादी प्रतिक्रियावादी ताकतों को समाज सुधारकों पर ही हमला बोलने का मौका प्रदान कर देता है भले ही यह कृत्य नितांत घृणित हो! ऐसे में सही दिशा में सामाजिक-धार्मिक क्रांति या वैचारिक क्रांति का तरीका क्या होगा इस पर विचार करना भी जरूरी होगा।

अंत में ध्यान दिलाया जा सकता है कि जहां तक भारत में वाम आंदोलन कि सीमाओं की बात है डॉ॰ राम मनोहर लोहिया और किशन पटनायक इस बात पर लगातार ज़ोर देते रहे थे कि भारत की जाति व्यवस्था को यथार्थतः समझते हुए उसे संबोधित करने की जरूरत है जो केवल आर्थिक उत्थान का मसला नहीं है।

पुस्तक की जो भी सीमाएं हैं, मेरा विश्वास है कि आज के अत्यंत नैराश्यपूर्ण वातावरण में सुभाष गाताडे के इस द्रोहपूर्ण प्रबोधन से बहुतों को अपने अतीत और वर्तमान को ठीक से जानने समझने का मौका तो मिलेगा ही, वर्तमान भ्रमजाल से निकल कर भारत राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए नयी चेतना के साथ फिर से उठ खड़ा होने की प्रेरणा मिलेगी। लेखक को हमारा साधुवाद!

रपट

समान शिक्षा आंदोलन और स.ज.प.

समान शिक्षा आंदोलन का सूत्रपात वर्ष 2009 में प्रोफेसर अनिल सदगोपाल के साथ ही सजप के तत्कालीन राष्ट्रीय अध्यक्ष/महामंत्री साथी सुनील द्वारा इसकी बड़ी आवश्यकता के आग्रह के साथ हुआ। जिसके फलस्वरूप 'अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच' (अभाशिअम) की स्थापना की गई और सजप उसके एक प्रधान घटक के रूप में सम्मिलित हुआ। तब से 18 फरवरी, 2019 को दिल्ली में 'हुंकार रैली' के आहूत किए जाने तक और उसके आगे भी इस आंदोलन में सजप राष्ट्रीय, प्रांतीय, जिला एवं नगर/ग्रामों के स्तर पर इसमें अपनी सक्रिय संगठनात्मक भूमिका निभाता आ रहा है और सजप के साथी व्यक्तिगत और समूहिक रूप से इसके विभिन्न कार्यक्रमों से संलग्न रहे हैं। साथी सुनील के रहने तक दिल्ली में आयोजित हुयी प्रथम रैली (अगस्त, 2010), चेन्नई सम्मेलन (30जून-01जुलाई, 2012) एवं घोषणापत्र के निर्माण में सजप इस आंदोलन की आधारशिला रखने में अपनी मुखर एवं प्रभावी उपस्थिति दर्ज करता रहा। क्रमशः इस संवाद को लेकर देश की विभिन्न दिशाओं से निकली जनसंवाद यात्राओं में सजप के साथियों ने सक्रिय योगदान दिया। सजप ने उत्तर प्रदेश में बलिया से लेकर बांदा व म॰प्र॰ के छतरपुर तक (25 नवंबर से 30 नवंबर, 2014 तक) इस यात्रा का नेतृत्व किया जिसमें साथी डॉ॰ स्वाती, डॉ॰ महेश विक्रम, अफलातून, चौधरी राजेंद्र आदि शामिल रहे। इसके बाद भोपाल में यात्राओं के समापन पर 4 दिसंबर, 2014 को आयोजित राष्ट्रीय सम्मेलन में देश भर से पहुंचे सजप के प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिसमें साथी सुनील को याद किया गया और डॉ॰ स्वाती ने सभा को संबोधित भी किया।

पुनः विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू॰टी॰ओ॰) और उसके आर्थिक हमले के साथ ही शिक्षा पर पड़ने वाले उसके दुष्प्रभाव के खिलाफ सजप की ओर से वाराणसी में संगोष्ठी, पोस्टर-प्रदर्शनी एवं जुलूस आयोजित किया गया। तदनंतर विशेष रूप से वाराणसी और अन्य स्थानों पर सजप द्वारा लगातार जन सभाओं, नुक्कड़ सभाओं, गोष्ठियों, जनसंवादों, जनसम्पर्क, कार्यशालाओं, पोस्टर-प्रदर्शनी, पर्चा वितरण आदि का आयोजन किया जाता रहा जिसमे समय-समय पर प्रोफेसर अनिल सदगोपाल, प्रोफेसर मधु प्रसाद, डॉ॰ विकास कुमार गुप्ता, डॉ॰ सचिन आदि को संबोधनों हेतु आमंत्रित किया जाता रहा। इसके साथ ही सजप के साथी अन्य घटकों अथवा संस्थाओं, संगठनो द्वारा वाराणसी, आजमगढ़, लखनऊ या अन्यत्र आयोजित सभाओं-गोष्ठियों आदि में भी सहभागिता करते रहे हैं। तदोपरांत 2016 में इलाहाबाद आहूत राष्ट्रीय सम्मेलन (9 अप्रैल, 2016) और फिर बाद में

वहीं आयोजित कार्यशाला (25-26 जून, 2016) में भी सजप के साथियों प्रोफे॰ महेश विक्रम व डॉ॰ नीता चौबे ने सक्रिय भूमिका निभाई। सजप द्वारा अगस्त, 2016 में पराड्कर भवन, वाराणसी में प्रोफेसर अनिल सदगोपाल की जनसभा, वाराणसी में ही विश्व ज्योति जनसंचार केंद्र में प्रोफेसर अनिल सदगोपाल एवं डॉ॰ विकास कुमार गुप्ता के साथ कार्यशाला का आयोजन हुआ। प्रोफेसर मधु प्रसाद को वाराणसी में ही आयोजित समान-शिक्षा संबन्धित एक अन्य संगोष्ठी के लिए आमंत्रित किया गया (तिथि ?)। वाराणसी में साझा संस्कृति मंच पर, जिसका सजप भी सदस्य है, समान शिक्षा का मुद्दा उठाया गया और आशा के कुछ साथियों श्री दीन दयाल सिंह, श्री वल्लभचार्य पांडे, श्री सुरेश राठौर आदि के नेतृत्व में 'एक देश समान शिक्षा' नाम से समान शिक्षा अभियान के तहत उ॰ प्र॰ के पूर्वाञ्चल में साइकिल और मोटर-साइकिल रैलियों, जनसम्पर्क और जनजागरण यात्राओं, नुक्कड़ सभाओं, पोस्टर प्रदर्शनियों आदि के आयोजन होते रहे हैं।

अंग्रेज़ी हटाओ आंदोलन की पचासवीं वर्षगांठ पर वाराणसी में ही सजप समेत विभिन्न सहमना और समविचार व्यक्तियों और संगठनों की पहल पर सजप के महामंत्री श्री अफलातून के सयोंजकत्व में समान शिक्षा अभियान से ही जुड़े 'चले देश में देसी भाषा' के नारे के साथ शिक्षा का माध्यम देसी भाषाओं को बनाने की अनिवार्यता पर बल देने के लिए एक बड़ी रैली और राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें अनेक समविचार व्यक्तियों और संगठनों ने सक्रिय हिस्सेदारी की और वरिष्ठ समाजवादी साथियों श्री विजय नारायण, डॉ॰ सुरेन्द्र प्रताप, डॉ॰ आनंद कुमार तथा प्रोफेसर अनिल सदगोपाल आदि के सम्बोधन हुए।

15 जुलाई 2018 को अभाशिअम द्वारा निर्धारित 'प्रोग्राम आव एक्शन' के क्रियान्वयन के उद्येश्य से सारनाथ, वाराणसी में सजप की ओर से सजप और सहमना संगठनों के प्रतिनिधियों और व्यक्तियों की एक सभा/सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें उ॰ प्र॰ में वाराणसी, चंदौली, संत रविदास नगर, सोनभद्र, मिर्ज़ापुर, इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, आजमगढ़, मऊ, बलिया, गोरखपुर, देवरिया, जौनपुर, गाजीपुर, गाजियाबाद के साथ ही उत्तराखंड के कुछ प्रतिनिधियों ने भागीदारी की। इनमें आजमगढ़ से साथी श्री बृजेश कुमार यादव और उनके साथी, देवरिया से श्री चतुरानन ओझा, मऊ से श्री रामकेवल, श्री विक्रमा मौर्य, श्री अरविंद गिरि, इलाहाबाद से युवा साथी श्री शैलेश, श्री रितेश और उनके युवा साथी, वाराणसी से ही डॉ॰ रमन पंत, डॉ॰ राजेंद्र प्रसाद सिंह, डॉ॰ अनिल चौधरी, डॉ॰ उपेंद्र नाथ त्रिपाठी, डॉ॰ अनिल राजभर, श्री चौधरी राजेंद्र, तथा सजप के साथियों की उपस्थिति उल्लेखनीय रही। सभा की अध्यक्षता सजप के वरिष्ठ साथी श्री अब्दुल्ला अंसारी ने की और प्रोफेसर अनिल सदगोपाल द्वारा प्रमुख सम्बोधन किया गया। अन्य वक्ताओं में डॉ॰ स्वाती, श्री अफलातून, डॉ॰ महेश विक्रम, डॉ॰ राजेंद्र प्रसाद सिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय से डॉ॰ रविकान्त (हिन्दी के एसोसिएट प्रोफेसर एवं अदहन पत्रिका के संपादक), एन॰ए॰पी॰एम॰ लखनऊ से श्री नसीरुद्दीन, अनेक छत्र संगठनों के युवा साथी तथा उत्तराखंड से स्कूल टीचर्स संगठन के नेता श्री नवेन्द्र मठपाल आदि सम्मिलित रहे। इस सम्मेलन में ही सर्वसहमति से सजप के वरिष्ठ साथी डॉ॰ महेश विक्रम को उ॰ प्र॰ राज्य में समान शिक्षा आंदोलन कार्यक्रम का संयोजक नियुक्त किया गया।

सजप के साथियों द्वारा 'प्रोग्राम आफ एक्शन' के अनुसार गावों और नगरों में लगातार नुक्कड़ सभाओं, गोष्ठियों, पोस्टर प्रदर्शनियों, शिक्षा के अधिकार के नए मसविदे के दहन तथा कैम्पेन एसोशिएट बनाने जैसे कार्यक्रमों के माध्यम से जनसम्पर्क और जनजागरण अभियान चलाया जाता रहा है। 21 अक्टूबर, 2018 को मऊ के मधुबन में इस संबंध में उ॰प्र॰ के पूर्वाञ्चल के संगठनों के साथ एक बड़ी बैठक का आयोजन किया गया। सहारनपुर में एक निजी शैक्षिक संस्थान में सजप के साथी और उ॰ प्र॰ समान शिक्षा आंदोलन के समन्वयक प्रोफेसर महेश विक्रम ने प्रोफेसर अनिल सदगोपाल, प्रोफेसर मधु प्रसाद, डॉ॰ विकास कुमार गुप्ता के साथ ही अध्यापकों, छात्र-छात्राओं और कतिपय स्थानीय जनों को समान शिक्षा आंदोलन और उसके लिए उठ खड़े होने की आवश्यकता बताते हुए संबोधित किया और दिल्ली में निर्धारित हुंकार रैली में शामिल होने का आह्वान किया। इसके फलस्वरूप डॉ॰ अनिल कुमार तिवारी और उनके साथियों ने हुंकार रैली में अपनी उपस्थिती भी दर्ज कराई। इसी प्रकार लखनऊ के एक निजी महाविद्यालय- जय नारायण डिग्री कॉलेज में आयोजित एक संगोष्ठी में प्रोफेसर मधु प्रसाद के साथ सजप की वरिष्ठ साथियों डॉ॰ स्वाती और श्री अफलातून जी ने शिरकत कर उपस्थित अध्यापकों, छात्र-

छात्राओं को इस विषय में जागरूक करने का कार्य किया। दिल्ली में हुंकार रैली की तैयारी में सहयोग देने के लिए डॉ॰ स्वाती, प्रोफे॰ महेश विक्रम, श्री अफलातून और डॉ॰ नीता चौबे को तैयारी समिति में सम्मिलित किया गया और सबने इस संबंध में दिल्ली में आयोजित बैठकों में भाग लिया। रैली की तैयारी के लिए डॉ॰ विकास कुमार गुप्ता एवं श्री लोकेश मालती प्रकाश के साथ सजप की ओर से डॉ॰ नीता चौबे ने दिल्ली में लंबा प्रवास कर अनेक औपचारिकताओं को पूरा करने में अपना बड़ा सहयोग प्रदान किया। अंततः दिल्ली में आयोजित रैली में सजप के राष्ट्रिय अध्यक्ष एड॰ कमाल बनर्जी, महामंत्री श्री अफलातून एवं राष्ट्रीय उपाध्यक्ष एड॰ जोशी जैकब एवं डॉ॰ स्वाती के साथ ही पूरे देश से सजप के करीब सत्तर लोगों ने अपनी सक्रिय भागीदरी की जिसमें वाराणसी से जाने वाले साथियों की संख्या सर्वाधिक रही। केसला-म॰प्र॰ से फागरम और साथी, केरल से सजप के उपाध्यक्ष एड॰ जोशी जैकब और साथी, जयपुर से सुश्री सुनीता, श्री आदित्यनाथ एवं श्री उपेंद्र शंकर, दिल्ली से श्री मदनलाल हिन्द, श्री जगनरायण महतो, श्री दूधनाथ राम, कवि श्री राजेंद्र राजन, श्री इकबाल अभिमन्यु और एड॰ प्योली स्वातिजा, बिहार से श्री नरेन्द्र और साथी और झारखंड से श्री रणजीत कुमार, महाराष्ट्र से सुश्री तारा जाधव व साथी, पश्चिम बंगाल से सजप के राष्ट्रीय अध्यक्ष एड॰ कमल बनर्जी और साथियों के साथ ही वाराणसी और उ॰प्र॰ पूर्वाञ्चल से प्रोफे॰ महेश विक्रम, श्री चौधरी राजेंद्र, श्री लोलार्क द्वीवेदी, डॉ॰ नीता चौबे, सैयद मकसूद भाई, श्री रामदयाल, श्री रामकेवल, डॉ॰ संतोष कुमार, डॉ॰ आनंद कुमार यादव, डॉ॰ राजेश कुमार यादव, डॉ॰ स्वतंत्र कुमार मौर्य, श्री ललित कुमार मौर्य आदि प्रमुख थे। उल्लेखनीय है कि ओड़ीशा के साथी अपनी राज्य सरकार द्वारा उस समय बसों पर कब्ज़ा कर लिए जाने के कारण अपने स्थानों से भुवनेश्वर नहीं पहुँच पाने की वजह से रैली में शामिल नहीं हो सके।

हुंकार रैली के बाद से भी सजप के साथियों ने समान शिक्षा आंदोलन के अंतर्गत निर्मित प्रश्नोत्तरी प्रपत्र को भरवाते रहने का अभियान जारी रखा है। आम चुनाव 2019 को लक्ष्य कर सभी दलों के प्रत्याशियों और दलीय प्रतिनिधियों से समान शिक्षा के सवाल पर उसके समर्थन में शपथ-पत्र पर हस्ताक्षर करवाने की योजना में भी देश भर में सजप के साथियों ने अपनी पहल बनाए रखी है।

प्रोफेसर महेश विक्रम*, अध्यक्ष, सजप, उ॰प्र॰*
एवं संयोजक-समान शिक्षा आंदोलन, उ॰प्र॰

समाजवादी जन परिषद म.प्र.

इस बार होशंगाबाद जिले के सिवनीमालवा क्षेत्र से साथी फागराम विधन सभा चुनाव लड़े।

सिवनीमालवा क्षेत्र भाजपा को 88022 वोट मिले, कांग्रेस को 76418 वोट, नोटा को 3897 वोट और साथी फागराम को 1545 वोट मिले। इस बार पिछली बार (2013) के 6565 से काफी कम वोट मिले। जिस क्षेत्र में सजप काम करती है उसमें लोगों ने कांग्रेस को वोट दिया। सिवनी मालवा क्षेत्र में पिछले पाँच वर्षो में पार्टी सक्रिय नहीं थी। केवल केसला ब्लाक में ही सक्रिय थी। हालांकि केवल यह ही कम वोट मिलने का कारण नहीं हो सकता है। विगत पाँच वार्षो में पार्टी एक टीम की तरह काम नहीं है। कोई शिविर, सम्मेलन, सदस्यता नहीं की गई। पार्टी को कोई ढाँचा नहीं है।

पिछले विधन सभा चुनाव में भी केवल भुमकापुरा के लोग ही चुनाव प्रचार के लिये निकले थे। बॉकि साथियों को चुनाव प्रचार में ज्यादा रूचि नहीं थी। इस बार फागराम अकेले चुनाव प्रचार कर रहा थे लेकिन बॉकि पार्टी सदस्य बुलाने पर एकजुट हो गये। और चुनाव हारने के बाद भी एसा कह रहे है कि वह पार्टी कार्य में सक्रिय रहेंगे।

गोडवाना गणतंत्र पार्टी को इस बार सिवनीमालवा विधान सभा क्षेत्र में लगभग 9800 वोट मिले और वह तीसरे स्थान पर रही पिछली बार गोडवाना गणतंत्र पार्टी को 3500 के लगभग वोट मिले थे। पिछली बार सजप तीसरे स्थान पर थी। इस बार सातवे स्थान पर है। इस बार गो.ग.पा. को प्रदेश में 1.7 प्रतिशत वोट मिले जबकि बसपा को 5 प्रतिशत, सपा को 1.3 प्रतिशत, आ.आ.पा. को 0.7 प्रतिशत वोट मिले।

मेरी व्यक्तिगत राय यह है कि ऐसे प्रयोग अब काफी हो गये है। अब हमें विधान सभा चुनाव केवल एक सीट से नहीं लड़ना चाहिए। अब अगर 4-6 जगह से लड़ने की

स्थिति नहीं है तो पार्टी को चुनाव नहीं लड़ना चाहिए। पार्टी को भी इस बार सोहागपुर, सिवनीमालवा, (होशंगाबाद जिला), बैतूल में घोड़ाडोंगरी से लड़कर देखना चाहिए था। पार्टी के कम से कम 50 सक्रिय कार्यकर्ता होना चाहिए।

बाहर से काफी चंदा दिया गया। खर्च लगभग 65000/- रुपये हुआ। चन्दा एक लाख बीस हजार रुपये आया।

मध्य–प्रदेश विधानसभा निर्वाचन 2018 सिवनी मालवा–136 की रिपोर्ट

1. मध्यप्रदेश निर्वाचन के अंतर्गत विधान सभा क्षेत्र-136 सिवनीमालवा से समाजवादी जन परिषद के उम्मीदवार के रूप में भाई फागराम को एक मात्र प्रत्यासी के रूप में चुनाव लड़ाने का फैसला किया गया। इस हेतु कई बार बैठके की गई जिसमें इसकी तैयारियों पर चर्चा भी हुयी।

2. इसके बाद फैसला हुआ कि सजप के एक मात्र उम्मीदवार के रूप में भाई फागराम चुनाव लड़ेंगे, चुनाव हेतु सभी आवश्यक तैयारियाँ की गयी जिसमें चंदा से लेकर प्रचार करने वाले लोगों की टीम बनी टीम में महिला पुरुष नौजवान, सभी वर्ग के लोगों का सहयोग रहा।

3. प्रचार में एक चार पहिया वाहन था जिसमें बैठकर कार्यकर्ताओं ने प्रचार की कमान संभाली वहीं दूसरी ओर फागराम ने पूरा प्रचार मोटर सायकल पर हेंडमाइक के माध्यम से लगभग 150 से ज्यादा गाँव में प्रचार हुआ वहीं चार पहिया वाहन से भी कई गाँवों में प्रचार हुआ।

4. चुनाव प्रचार साधारण था जिसमें 50 हजार के लगभग पर्चे छपवाये गये एवं तीन फ्लेक्स बनवाये, चार पहिया गाड़ी में लगाने के लिये।

5. प्रचार के दौरान कभी पर भी कोई आमसभा नहीं की गई न ही जुलूस निकाला गया, नुक्कड़ सभायें जरूर हुई बाजारो और चौराहों में।

6. चुनाव बड़े जोश और उमंग के साथ लड़ा गया था। इसके बाद भी उम्मीद से कहीं कम वोट मिले जिसकी कल्पना भी नहीं थी, चुनाव परिणामों के सोचने पर मजबूर कर दिया।

अगर चुनाव परिणामों की समीक्षा की बात की जाये तो समझ में आता है कि पूरे प्रचार के दौरान एक टीम के रूप में योजना बनाकर प्रचार नहीं हुआ जिस तरह प्रतिदिन शांम को पूरी दिन भर के प्रचार अभियान की समीक्षा होना था तथा आगे की कार्ययोजना बनाना वैसा कुछ हुआ नहीं।

उम्मीदवार और प्रचार अभियान में मतभेद एवं एकरूपता की कमी रही, आपसी सामंजस्य तालमेल का अभाव साफ दिखाई दिया, जिसके कारण कारगर रणनीति नहीं बन पाई और चुनाव परिणाम निराशा जनक आये।

संगठन जिस प्रकार से हर समय लोगों की समस्याओं पर काम करता रहता है उस हिसाब से देखा जाये तो दस प्रतिशत वोट भी हमें नहीं मिल पाये जबकी ऐसे-ऐसे लोगों को अच्छे वोट मिले जिन्होंने कभी जनता की समस्याओं पर कोई लड़ाई नहीं लड़ी न ही सक्रिय रहे, पहली बार चुनाव में लोगों के सामने आये और हमसे ज्यादा वोट ले गये।

चुनाव की रणनीति में हम पिछड़ जाते है और देखा जाये ते संगठन से लोगों की हमदर्दी तो है मगर उसे वोट में नहीं बदल पा रहे है। कार्यकर्ताओं की भारी कमी है। कोई भी कार्यकर्ता लम्बे समय तक हमसे नहीं जुड़ा रह पाता दो चार साल में ही कार्यकर्ता मानसिक रूप से दूरी बना लेता है जिसके कारणों पर विचार करने की आवश्यकता है।

हमें मजबूत कार्यकर्ताओं का आभाव है जिस तरह की राजनीति सजप करती है उसके लिये भावनाओं से समर्पित लोग चाहिये क्योंकि हम धर्म, जाति, पैसों और आपस में बाँटने की राजनीति नहीं करते। बाकी सभी पार्टियाँ इसका सहारा लेकर हमसे आगे निकल जाती है।

विधान सभा चुनाव म.प्र. 2018. (फागराम 29.11.18)

ये चुनाव एक ऐसे समय में लड़ा जा रहा था जब पार्टी एवं संगठन बड़ी गम्भीर परिस्थियों से गुजर रहा है। होशंगाबाद जिले में संगठन की बिलकुल भी स्थिति अच्छी नहीं है। उसके बाद भी चुनाव लड़ा गया।

पार्टी संगठन में क्षेत्र में बहुत कमजोरियाँ रही है। जो पहले के साथी एवं कार्यकर्ता थे किन्हीं कारणों से संगठन छोड़ दिये है। और कुछ ज्यादा ही सक्रिय हो गये है। लोगों ने नये कार्यकर्ता नहीं बना सके। चुनाव के पहले कुछ मुद्दों पर आन्दोलन हुये थे जिसके बाद 28 सितम्बर को चुनाव लड़ने का फैसला सामूहिक रूप से लिया गया था मगर उस ढंग से जुम्मेदारी लोगों ने नही निभाई है उस ढंग से चंदा भी नहीं हुआ है। दूसरे राज्य की इकाईयों एवं मित्रों के चंदा से पूरा चुनाव का खर्च उठाया गया। कुछ स्थानिय स्तर पर भी पार्टि की महिला कार्यकर्ताओ एवं गांव से भी चंदा किया गया था। इस बार चुनाव प्रचार प्रसार में कई कमी रही जैसे संगठन के कमजोरी के कारण हम कही पर रैली, आमसभा भी नहीं कर पाये कई कमियों के चलते हम नुक्कड़ सभा भी नहीं कर पाये ये हमारी बड़ी कमजोरी रही है। कार्यकर्ताओं की बड़ी कमी रही है। जिससे स्थानिय स्तर पर चुनाव कार्यक्रम को सुचारू रूप नहीं दे सके। हमने पहले से गाँव गाँव में कार्यकर्ता

संगठित नहीं कर पाये और चुनाव के समय कांग्रेस, भाजपा जैसी पार्टियाँ क्षेत्र में पैसा दारू का ललच देती है उस समय हल्का फुल्का कार्यकर्ता भी फेल हो जाते है उनका सामना नहीं कर पाते है। पहले से संगठन कमजोर होने के कारण कार्यकर्ता वैचारिक रूप से कमजोर होने के कारण बराबरी नहीं कर पाते है। ये सब संगठन एवं पार्टी की अपनी कमजोरी है।

चुनाव में हमने जाति, धर्म के नाम से वोट नहीं मांगे। लोगों के हक अधिकार और सड़ीगली व्यवस्था को बदलने के लिये बोट मांगे। चुनाव प्रपचार में दो मोटर सायकल लगाई कुछ दिनों के लिये एक जीप लगाई, दो हैंड माइक तथा छः प्रकार के परचे छपा कर प्रचार किया। प्रचार में स्थानिय स्तर में कुछ महिला पुरुषों की भागीदारी रही जो समिति थी। चुनाव लेखा जोखा का कार्य में इटारसी के चन्द्रशेखर जी की मदद भी ली गई।

चुनाव में कुल 1545 वोट मिले। जो संगठन के कार्य क्षेत्र के हिसाब से संतोषजनक नहीं है। क्षेत्र के लोगों को लगता है जो पार्टी सरकार बना सकती है उसे वोट देना चाहिए। लोगों को अभी विचार या सिद्धांत से कोई फर्क नहीं पड़ता है। मगर लोगों को लगता है कि गरीब लोगों की लड़ाई ये पार्टी लड़ती है।

अब हम लोग इस परिश्रम को देख समझ कर लगता है कि हम सबको इस पर थोड़ा गहरा दिमाग लगाकर सोचना होगा कि आगे किस तरह से संगठन में नये लोगों को या नये मुद्दो को जोड़ सकें और आगे बढ़सकें।

इस वर्ष विधानसभा चुनाव के अनुभव (बिस्तोरी)

समाजवादी जनपरिषद को इस बार 1505 वोट मिले जो उन लोगों का है जो हमारे संगठन को अच्छी तरह से जानते है। हमें गम नहीं है हारने का क्योंकि किसी की सरकार बन जाए हमें तो अपने हक अधिकार के लिये लड़ना पड़ता है।

हमें प्रचार में जन संगठन, स्थानीय संगठन के चंदा से एक फोरव्हीलर लगी थी जिसमें हम 9 से 10 कार्यकर्ता प्रचारक बैठते थे कभी-कभी कुछ प्रचारक बदल कर जाते थे उन सबके साथ मैं भी थी। 19 से 23 नवम्बर तक हम लोग गाड़ी से प्रचार कीये। आखरी में सादपुरा बाजार में परचा बाँटा लोगों से मिले बातचित किये। प्रचार के दौरान काफी कमी महसूस हुई पहले से ही चुनावी तैयारी होनी चाहिए थी कार्यकर्ता की कमी, समय की कमी, कार्यकर्ता प्रशिक्षण की कमी। ये सब मुसकिल हलात में भी समाजवादी जनपरिषद चुनाव मैदान में डटे रहे।

इंकलाब जिंदाबाद।

राजनैतिक प्रस्ताव, भुवनेश्वर

9,10 मार्च,2019

समाजवादी जन परिषद की यह राष्ट्रीय कार्यकारिणी एक विकट राजनैतिक परिस्थिति में हो रही है। चुनाव की समय सारिणी की घोषणा हो चुकी है। किसी भी लोकतांत्रिक देश में चुनाव नियत अंतराल में वहां के चुनाव आयोग द्वारा करवाये जाते हैं। सत्ताधारी गठबंधन के विपक्ष की पार्टियों व जम्हूरियत पसंद नागरिकों के मत में चुनाव आयोग प्रधान मम्न्त्री की सारी योजनाओं की घोषणा समाप्ति का इम्तेजार कर रहा था।समय सारिणी का अवलोकन करने पर हम पाएंगे कि प्रधान मंत्री व भाजपा अध्यक्ष अमित शाह के गृह राज्य गुजरात में चुनाव एक ही दिन हो रहे हैं।कई छोटे राज्यों जैसे हरियाणा और मेघालय में भी एक दिन में चुनाव कराए जा रहे हैं। मगर कई में 4 या 7 चरणों में चुनाव हो रहे हैं।

राष्ट्रीय कार्यकारिणी यह दोहरा रही है कि वर्तमान में जो चुनाव प्रणाली है उसे अंग्रेजी में इझऊइ कहते हैं जिसमें कुल जनसंख्या में कम मत मिले होने के बावजूद कोई दल ज्यादा सीटें पाता है। और कोई अन्य दल, उस के लगभग बराबर प्रतिशत वोट पाने पर भी बहुत कम सीट पाता है। सजप आनुपातिक प्रतिनिधि प्रणाली से चुनाव कर्वाने की मांग कर्ती है, ताकि विभिन्न राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व मिले।

देश की सभी लोकतांत्रिक ताकतें तत्परता से भाजपा और उसके सहयोगियों की पराजय की उम्मीद लगाये हैं। मोदी सरकार की असली ताकत हिंदुत्ववादियों से आती है जो मुस्लिम, दलित, आदिवासियों, इसाइयों, स्त्रियों तथा कश्मीरियों पर हमले करवाती रही है यहां तक की भीड द्वारा हत्याएं भी करवाती रही है। इन तबकों में भय पैदा कर दिया गया है।

पूरे सरकारी तंत्र को हिंदुत्व विचारधारा के अनुरूप में काम करने के लिए बाध्य किया जा रहा है। जनता और बुद्धिजीवी तबके के मन में आशंका है कि इस विचारधारा द्वारा लोकतांत्रिक ढांचे को खत्म कर दिया जाएगा। स्वतंत्रता के

लिए चले राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान विकसित मूल्यों से देश में लोकतंत्र स्थापित हुआ है। हिंदुत्व का दर्शन बहिष्कारवाद पर आधारित और इससे राष्ट्र को खतरा है।

समाजवादी जन परिषद इस संकल्प को दोहरा रहे हैं कि मोदी सरकार और हिंदुत्व की ताकतों को परास्त करने की लिए पूरी ताकत लगा देंगे। मोदी सरकार को हराने के लिए माहौल बनाने में हमारी भूमिका रहेगी। गैर भाजपाई स्थापित दलों को खुला समर्थन देने का भी हमें कारण समझ में नहीं आता है। सभी गैर भाजपाई स्थापित दल अर्थनीति, विकास, विश्व व्यापार संगठन, मुद्रा कोष, एशियाई विकास बैंक द्वारा हमारी अर्थनीति में हस्तक्षेप को उचित मानते हैं।

भाजपा,कांग्रेस,जनता परिवार के लगभग सभी दल, कम्युनिस्ट और क्षेत्रीय दलों ने अनुसूचित जाति,अनुसूचित जनजाति,अन्य पिछड़ा वर्ग के आरक्षण को नुकसान पहुंचाते हुए सवर्ण आरक्षण लागू किया है।जातिग्रस्त समाज में पहले से लागू आरक्षण सामाजिक क्रांति का प्रतीक है और सवर्ण आरक्षण ने इसकी उपेक्षा की है।ग्रामीण आबादी तथा जंगल से जुदी. आदिवासी आबादी के व्यापक विस्थापन का विरोध न करने में भे यह सभी दल एक मत हैं। अमीर और गरीब के बीच बढ रही खाई की इन्हें चिंता नहीं है।हमें भारत की आम जनता के हक में वैकल्पिक राजनीति को जिंदा रखना है।

खतरनाक भाजपा को पराजित करने के लिए इन दलों को खुला समर्थन देने पर हम एक जाल में फंस जाएंगे जिसे तोड़ न पाने की स्थिति में वैकल्पिक राजनीति का नुकसान होगा।इसके अलावा यह भय भी बना रहता है कि कौन सा भाजपा विरोधी दल गैर भाजपा खेमे में कब तक बना रहेगा। तेलुगु देशम,तृणमूल,बीजू जनता दल कभी न कभी भाजपा के साथ सत्ता में भागीदार रहे हैं। नीतीश कुमार और जदयू का उदाहरण भी आंखें खोलने वाला है।भाजपा का साथ छोड़कर उसे हराने वाले गठबन्धन का नेतृत्व किया, मुख्य मंत्री बने और फिर भाजपा का साथ पकड़ लिया।ऐसे दलों के बारे में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता है तथा ये विश्वसनीय नहीं हैं।

इस परिपेक्ष्य में हमारे पास एक ही विकल्प है कि हम जहां चुनाव नहीं भी लड़ेंगे वहां वैकल्पिक राजनीति के साथ जनता के बीच जाएंगे।चुनाव लड़ने अथवा न लड़ने का निर्णय राज्य समितियां तय करेंगी।

सजप इस बात से चिंतित हैं कि वनों में रहने वाले लाखों आदिवासी परिवारों को वनाधिकार कानून 2005 के तहत आवेदन अस्वीकृत होने के कारण सर्वोच्च न्यायालय ने उजाड़ने का निर्णय दिया है। आदिवासियों के वनाधिकार के प्रति नौकरशाही की उपेक्षा के कारन यह नौबत आई है तथा सरकार ने आदिवासियों का पक्ष न्यायालय के सामने मजबूती से रखा भी नहीं है।

आदिवासियों को विस्थापित करने के हर प्रयास का हम विरोध करेंगे।आदिवासी, वन्य जीव तथा वन अनादिकाल से एक सामंजस्य के साथ रहते आए हैं। मोदी सरकार द्वारा परियोजनाओं के लिए ग्राम सभाओं की स्वीक्रिति का प्रावधान को चुनाव घोषणा के दिन हटा लेना पूरी तरह जन विरोधी और अलोकतांत्रिक है। सभी लोकतांत्रिक शक्तियों से हमारी अपील है कि इस अधिसूचना का विरोध करने के लिए एकजुट हों।

प्रस्तावक – **जोशी जेकब**

भुवनेश्वर.

सजप के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष, लिंगराज आजाद की निंदनीय गिरफ्तारी के खिलाफ प्रस्ताव

नियमगिरि पर्वत पर बॉक्साईट (अल्मुनियम अयस्क) खनिज का क्षेत्र जो अविरल सलिला नदी नालों से भरपूर व वन औषधियों का भण्डार है, इस जंगल में डोंगरिया कोंध आदिवासियों के साथी एवम् नियमगिरि सुरक्षा समिति के मार्गदर्शक व समाजवादी जन परिषद् के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष श्री लिंगराज आजाद काम करते हैं। ओडीसा की कॉरपोरेट परस्त सरकार के निर्देशन में राज्य की पुलिस ने उन्हें झूठे मुकदमों के तहत 6 मार्च 2019 को गिरफ्तार कर लिया है। उनकी गिरफ्तारी को जरूरी दर्शाते हुए ओडिसा पुलिस ने एक प्रेस विज्ञप्ति 7 मार्च को निकाली, जिसमें समाजवादी जन परिषद् के उपाध्यक्ष साथी लिंगराज आजाद को माओवादियों का सहानुभूतिक व सहायक बताया गया है।

सनद रहे कि जब नियमगिरि आदिवासियों के वेदांत कंपनी के खिलाफ चल रहे आन्दोलन के वकील ने उच्चतम न्यायालय में डोंगरिया कोंध के अस्तित्व पर संकट की याचिका दायर की थी, तो सुप्रीम कोर्ट ने कटक हाईकोर्ट को निर्देशित किया कि नियमागिरि क्षेत्र के गाँव पंचायत में रायशुमारी कराई जाय कि बॉक्साईट का खनन हो कि नहीं हो।

जनमत संग्रह में हर गाँव में खनन के विरोध में वोट पड़े। तब से नियमगिरि पहाड़ के बॉक्साईट से छेड़छाड़ नहीं हुई, आदिवासी संस्कृति से भी नहीं।

माओवादियों ने जनमत संग्रह का बहिष्कार करने की अपील की थी, क्योंकि उन्हें संसदीय लोकतंत्र में विश्वास ही नहीं है। अहिंसक आंदोलन में विश्वास रखने वाले आजाद को माओपादी धमकी देते हैं, तो उन्हें किस सोच के आधार पर पुलिस द्वारा माओवादी संर्थक करार किया जा रहा है? सिर्फ शांतिपूर्ण चुनाव कराने के बहाने वेदान्त से मोटी रकम चन्दे के रूप में माँगने के लिए तो नहीं?

लिंगराज आजाद, लद सिकाका, दधि पुसिका, त्रिलोचन, कृष्ण जैसे नियमगिरि सुरक्षा समिति के नेता अगर बॉक्साईट का खनन नहीं करने दे रहे हैं तो वे उच्चतम न्यायालय के आदेश का अनुपालन कर रहे हैं। इस काम के लिए श्री लिंगराज आजाद की गिरफ्तारी उच्चतम न्यायालय की अवमानना है। सजप इस मामले को उच्चतम न्यायालय में उठायेगी।

वन सुरक्षा अधिकार (2006) के तहत देश में विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में करीब 11 लख आदिवासी बेघर कर दिये जायेंगे। सरकार जिस फुर्ती से 13 पॉइंट रोस्टर हटाकर पुनः न्यायपूर्ण 200 प्वाइंट रोस्टर वापिसी का अध्यादेश लायी है, उसी तरह आदिवासियों को अपने जंगल-जमीन पर रह कर, जंगल का संरक्षण कर अधिकार से जीने का हक़ है। इसके लिए भी सरकार को अध्यादेश लाना चाहिए।

समाजवादी जन परिषद् यह प्रस्ताव करती है कि बिना सतत् आन्दोलन चलाये आज की राजनीतिक परिस्थिति में किसी भी अच्छे कानूनी निर्णय को भी बचाया नहीं जा सकता। और यह आन्दोलन अहिंसक और लोकतांत्रिक तरीके से ही चलाया जा सकता है। यही हमारी बुनियादी राजनीतिक सोच है, जो हमें माओवादियों से भिन्न बनाती है।

इसलिए हमारी माँग है कि हमारे राष्ट्रीय उपाध्यक्ष श्री लिंगराज आजाद को माओवादी सहानुभूतिक का झूठा आरोप लगा कर जेल में नहीं रखा जाये व तुरन्त बिना शर्त रिहा किया जाए। इसके साथ ही नियमगिरि सुरक्षा समिति के कार्यकर्ताओं पर लाये गए झूठे मुकद्दमे ओडिसा सरकार वापिस ले।

सजप राष्ट्रीय कार्यकारिणी द्वारा पारित प्रस्ताव

प्रस्तावक— स्वाति

भाजपा की भूमिका से बेचैन हैं आदिवासी

अनुराग मोदी

हमारी राजनीतिक जमातों के लिए आदिवासी क्या और कैसी हैसियत रखते हैं इसे जानने के लिए एन चुनाव के पहले केन्द्र सरकार की लापरवाही और पहल पर हुए दो निर्णयों पर नजर मारी जा सकती है। जानते-बूझते की गई केन्द्र सरकार की लापरवाही से जहां सुप्रीम कोर्ट ने लाखों आदिवासियों को, 'वनाधिकार अधिनियम-2006' के तहत खारिज दावों की बिना पर जंगलों से बेदखली का आदेश थमा दिया, वहीं केन्द्र सरकार की ही पहल पर नौ दशक पुराने 'वन कानून-1927' में संशोधन प्रस्तावित कर दिए। जाहिर है, आदिवासियों के दैनिक जीवन पर असर डालने वाले ये कारनामे आम चुनाव को भी प्रभावित किए बिना नहीं रहेंगे। प्रस्तुत है, इस विषय की पड़ताल करता अनुराग मोदी का यह लेख।-संपादक

लोकसभा चुनाव से ठीक पहले जंगल को लेकर आए दो फैसलों ने आदिवासियों को बेचैन कर दिया है। भाजपा की केन्द्र सरकार के प्रति नाराजी पैदा करने वाले इन फैसलों में पहला है, 'वनाधिकार अधिनियम-2006' पर हाल में आया सुप्रीम कोर्ट का वह आदेश जिसमें करीब 12 लाख आदिवासी परिवारों को उनकी पीढ़ियों की बसाहट से बेदखल किया जाना था। इन आदिवासियों और अन्य पारंपरिक वन-निवासियों के 'वनाधिकार कानून' के तहत किए गए दावे खारिज कर दिए गए थे। सुप्रीम कोर्ट का यह आदेश सुनवाई में केन्द्र सरकार की लापरवाही के चलते कई-कई बार आदिवासियों का पक्ष नहीं रखे जाने के कारण आया था। दूसरा फैसला, चुनाव की घोषणा के ठीक पहले, 7 मार्च को 'वन कानून- 1927' में अंग्रेजों को भी शर्मसार करने वाले संशोधन का प्रस्ताव। हालांकि, दोनों ही मामलों में फ़िलहाल कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी। पहले मामले में केंद्र सरकार की अंतरिम याचिका के चलते सुप्रीम कोर्ट ने जुलाई माह तक बेदखली के अपने ही आदेश पर रोक लगा दी है और दूसरे में 'वन कानून-1927' में परिवर्तन भी आम चुनाव के बाद ही संभव होगा।

केन्द्र सरकार के इन आदिवासी विरोधी कदमों को लेकर आदिवासियों के बीच सक्रिय संगठनों ने कमर कस ली है। उनका स्पष्ट मानना है कि यह आदिवासियों के जंगल पर पारंपरिक अधिकारों पर सीधा हमला है। चुनाव के बाद इन दोनों ही मामलों में कार्यवाही होगी, इसलिए देशभर के आदिवासियों ने लोकसभा चुनाव में इसे मुद्दा बनाने का तय कर लिया है। एक अप्रैल को मध्यप्रदेश के बुरहानपुर शहर में 'जागृत आदिवासी दलित संगठन' के बैनर तले आयोजित 'चेतावनी रैली' में एकत्रित हुए पांच हजार आदिवासियों एवं अन्य संगठनों के प्रतिनिधियों के तेवर से यह बात साफ़ थी। शहरभर में निकाली गई रैली के बाद हुई आमसभा में इन संगठनों ने कांग्रेस और भाजपा से वन अधिकार के मुद्दे पर अपना पक्ष साफ करने को कहा है। 'वोट हमारा-राज तुम्हारा, नहीं चलेगा, नहीं चलेगा' का नारा देते हुए इस विशाल जमावडे ने खुलासा कर दिया कि अब आदिवासी चुपचाप आँख मूंदकर अपना वोट नहीं देगा।

बुरहानपुर में आदिवासियों का सबसे बड़ा सवाल था कि 'वनाधिकार अधिनियम' पर सुनवाई के दौरान सुप्रीम कोर्ट में केन्द्र सरकार मौन क्यों रही? जबकि सच्चाई यह है कि 'वनाधिकार कानून-2006' के क्रियान्वयन के नाम पर उसकी धज्जियाँ उड़ाई जा रही हैं। इस कानून में ग्राम सभाओं को वन अधिकार के दावों की जांच कर पात्रता तय करने का हक है, पर ग्राम सभाओं के बैठने के पहले ही या ग्राम सभाओं के प्रस्तावों को नजरंदाज कर वन विभाग का अमला एवं जिला प्रशासन दावों को अपात्र बता देता है। सामुदायिक वन अधिकार कहीं नहीं दिए गए हैं। सभा में आदिवासियों ने विस्तार में बताया कि किस तरह पीढ़ियों से उन्हें प्रताड़ित किया जा रहा है, उनको अपने घर और खेत से उजाड़ा गया है, उनके घर जलाये गए हैं, महिलाओं और बच्चों के साथ भी मार-पीट की गई है, उन्हें जेल में बंद किया गया है, उनके खेत नष्ट किये गए हैं, मवेशी जब्त किये गए हैं। 'वनाधिकार क़ानून' के तहत यह सब प्रतिबंधित है, पर आज भी ये सिलसिला जारी है और इस गैर-कानूनी आतंक के खिलाफ सभी नेता और प्रशासन मौन हैं। केन्द्र सरकार ने सुप्रीम कोर्ट के बेदखली के आदेश के बाद दायर अंतरिम याचिका में खुद

ही यह माना है कि दावे को तय करने की प्रक्रिया सही ढंग से नहीं हुई है एवं जिनके दावे खारिज हुए हैं उन्हें सुना भी नहीं गया है। अगर सरकार पहले ही यह पूरी बात कोर्ट के सामने रखती तो बेदखली का आदेश नहीं आता।

मध्यप्रदेश-महाराष्ट्र की सीमा पर स्थित बुरहानपुर में आयोजित आदिवासियों की आमसभा में कांग्रेस के रवैय्ये पर भी नाराज़ी जाहिर की गई। उनका सवाल था कि यूपीए सरकार क्यों अपने कार्यकाल में, अपने ही द्वारा लाए गए 'वनाधिकार कानून-2006' का सही-सही पालन नहीं करवा पाई? मोदी सरकार के दोनों फैसलों को इस लोकसभा चुनाव में कांग्रेस क्यों प्रमुख चुनावी मुद्दा नहीं बना रही है? जबकि आज मध्यप्रदेश, छतीसगढ़ एवं राजस्थान में कांग्रेसी सरकार आदिवासियों, दलितों की दम पर है। मध्यप्रदेश में ही कांग्रेस के 41प्रतिशत विधायक आरक्षित वर्ग से हैं।

'वन कानून-1927' ब्रिटिश सरकार के व्यापारिक हितों को ध्यान में रखकर बनाया गया था। इस कानून ने आदिवासियों की रोजमर्रा की जरूरतों को अपराधिक करार देते हुए उन्हें अपने ही घर में चोर बना दिया था। इस कानून के आधार पर ही वन विभाग आदिवासी क्षेत्र के लगभग आधे भू-भाग का मालिक बन गया था। वन विभाग को दुनिया का सबसे बड़ा जमींदार और आदिवासियों को गुलाम बनाने वाले इस कानून से मुक्ति पाकर असली आज़ादी प्राप्त करने के लिए इसमें बड़े बदलाव की जरुरत लम्बे समय से महसूस की जा रही थी। अब, आजादी के 72 साल बाद इसमें जो बदलाव प्रस्तावित किए जा रहे हैं वे इस कानून को और अत्याचारी बना देंगे।

मसलन-'वन कानून-1927' में बदलाव के प्रस्ताव के अनुसार जंगल में अतिक्रमण कर खेती करने,झोपडी बनाने या बिना इजाजत वनोपज लेने, पत्ते बीनने पर होने वाली सजा को एक माह से बढ़ाकर 6 माह किया जाएगा। उसके साथ ही जुर्माने की राशि को 500 से बढ़ाकर पांच हजार रुपए किया जाएगा। दूसरी बार पकड़ाने पर यह सजा बढ़कर एक साल और जुर्माने की राशि 20 हजार से लेकर दो लाख रुपए तक हो जाएगी। इतना ही नहीं, वन विभाग व्दारा बनाए कच्चे या पक्के पिलर, टीला, फेंसिंग, गड्ढे, रेलिंग आदि किसी भी चीज को नुकसान पहुंचता है, या जगह से हटाया जाता है, तो तीन से सात साल तक की सजा और 50 हजार से 50 लाख रुपए तक का जुर्माना होगा। 'वनाधिकार कानून-2006' में निस्तार के क्या अधिकार हैं और वो किन-किन लोगों के नाम पर हैं, यह वन विभाग के पास लिखा रहेगा। इसके अलावा अगर जंगल से गिरे हुए पत्ते भी उठाकर लाएंगे तो वन-अपराध में प्रकरण बनेगा। इस तरह के प्रावधान किसी भी कानून में शामिल करना तो दूर, इसके बारे में सोचना भी जन-विरोधी है। किसी भी लोकतांत्रिक देश की सरकार ऐसा कैसे सोच सकती है कि कुपोषण और भुखमरी से पीड़ित कोई समुदाय हजारों और लाखों रुपयों का जुर्माना भर पाएगा! इन अपराधों में लोगों को पकड़कर बंद करने के लिए जंगल में वन थाने बनाने का प्रस्ताव भी है। इतना ही नहीं, हर जिला अदालत में इन मामलों की सुनवाई के लिए अलग से कोर्ट बनाने की भी खा़स व्यवस्था करने की बात है। ऐसे में सहज सवाल उठता है कि ऐसी कौन-सी जरुरत आन पड़ी कि लोकसभा चुनाव की घोषणा के ठीक दो दिन पहले सरकार ने 'वन कानून-1927' में अंग्रेजों को भी शर्मसार करने वाले संशोधन प्रस्तावित किए ?

जाहिर है, केन्द्र की भाजपा सरकार समूचा जंगल कंपनियों को देने की हड़बड़ी में है। हाल ही में छतीसगढ़ में चार लाख एकड जंगल अडानी से जुड़ी एक कंपनी को कोयला निकालने के लिए दिया जा चुका है। बाकी जंगल पर्यावरण बचाने के नाम पर उद्योगों, पूंजीपतियों को दिया जाएगा। सरकार आदिवासियों और वननिवासियों की रोजमर्रा की जरूरतों को भी अपराध मानकर उन्हें जेल में डालने और भारी जुर्माने ठोंकने की तैयारी कर रही है। इस सबके खिलाफ चुनाव के बाद भी आदिवासी और सरकार के बीच कड़े संघर्ष की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता।(सप्रेस)

नामवर सिंह के दो सॉनेट

भारत डोगरा

दोस्त, देखते हो जो तुम अंतर्विरोध-सा
मेरी कविता कविता में, वह दृष्टि दोष है ।
यहाँ एक ही सत्य सहस्र शब्दों में विकसा
रूप रूप में ढला एक ही नाम, तोष है ।

एक बार जो लगी आग, है वही तो हँसी
कभी, कभी आँसू, ललकार कभी, बस चुप्पी ।
मुझे नहीं चिंता वह केवल निजी या किसी
जन समूह की है, जब सागर में है कुप्पी

मुक्त मेघ की, भरी ढली फिर भरी निरंतर ।
मैं जिसका हूँ वही नित्य निज स्वर में भर कर
मुझे उठाएगा सहस्र कर पद का सहचर
जिसकी बढ़ी हुई बाहें ही स्वर शर भास्वर
मुझ में ढल कर बोल रहे जो वे समझेंगे
अगर दिखेगी कमी स्वयं को ही भर लेंगे ।

आज तुम्हारा जन्मदिवस, यूँ ही यह संध्या
भी चली गई, किंतु अभागा मैं न जा सका
समुख तुम्हारे और नदी तट भटका-भटका
कभी देखता हाथ कभी लेखनी अबन्ध्या ।

पार हाट, शायद मेल; रंग-रंग गुब्बारे ।
उठते लघु-लघु हाथ,सीटियाँ; शिशु सजे-धजे
मचल रहे... सोचूँ कि अचानक दूर छः बजे ।
पथ, इमली में भरा व्योम,आ बैठे तारे

'सेवा उपवन', पुष्पमित्र गंधवह आ लगा
मस्तक कंकड़ भरा किसी ने ज्यों हिला दिया ।
हर सुंदर को देख सोचता क्यों मिला हिया
यदि उससे वंचित रह जाता तू...?

क्षमा मत करो वत्स, आ गया दिन ही ऐसा
आँख खोलती कलियाँ भी कहती हैं पैसा।

नियमगिरि पर ओडीशा राज्यपाल को ज्ञापन

महामहिम राज्यपाल,
ओड़िशा,
राजभवन, भुवनेश्वर।
माननीय महोदय,

ओड़िशा का संवैधानिक प्रमुख होने के नाते हम आपका ध्यान राज्य सरकार द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के फैसले की अवमानना तथा संवैधानिक दायित्वों की अवहेलना की ओर आकृष्ट कर रहे हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के आदेश पर कटक उच्च न्यायालय की देखरेख में अनिल अग्रवाल की वेदांत कंपनी द्वारा नियमगिरि पर्वत से बॉक्साइट खनन की बाबत जुलाई-अगस्त 2013 में 12 ग्राम सभाओं में जनमत संग्रह कराया गया था।इस जनमत संग्रह में सभी वोट खनन न करने के पक्ष में पड़े।तदनुरुप सर्वोच्च न्यायालय द्वारा खनन पर रोक लगा दी गई।इसके पश्चात राज्य सरकार के उपक्रम ओडिशा माइनिंग कॉर्पोरेशन द्वारा खनन करने की इजाजत देने से भी सर्वोच्च न्यायालय ने इनकार कर दिया।

हमारा सीधा आरोप है कि राज्य सरकार सर्वोच्च न्यायालय द्वारा खनन के विरुद्ध दिए गए फैसले की अवमानना करते हुए, इन फैसलों को रचनात्मक तरीके से लागू करने वालों के विरुद्ध राज्य की पुलिस का दुरुपयोग करते हुए उत्पीड़न कर रही है। गत दिनों ओडिशा पुलिस ने अपनी प्रेस विज्ञप्ति द्वारा यह साबित कर दिया कि वह सर्वोच्च न्यायालय तथा ग्राम सभाओं द्वारा खनन रोकने के फैसलों के समर्थकों को 'माओवादी समर्थक' तथा बाधा पहुंचाने वाला बता कर अपना निहित स्वार्थ प्रकट कर रही है।यह प्रेस विज्ञप्ति भारत निर्वाचन आयोग में पंजीकृत दल समाजवादी जान परिषद के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष श्री लिंगराज आजाद का उल्लेख करके जारी की गई।ओडिशा पुलिस को यह पता होना चाहिए कि माओवादी संसदीय लोकतंत्र में अविश्वास करते हैं तथा समाजवादी जन परिषद डॉ लोहिया के 'वोट ,फावड़ा,जेल' सूत्र का पालन करती है ।लिंगराज आजाद को ग़ैरहथियारबन्द आंदोलन के फर्जी मुकदमों के तहत गिरफ्तार किया गया है।उन्हें तत्काल रिहा किया जाए तथा नियमगिरि सुरक्षा समिति पर लगे सभी फर्जी मुकदमे वापस लिए जाएं।

हम यह स्मरण कराना चाहते हैं कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जनमत संग्रह को सुचारुरूप से सम्पन्न कराने के लिए हमारे दल के कार्यकर्ता सक्रिय थे तथा माओवादियों द्वारा इस जनमत संग्रह के बहिष्कार करने की सार्वजनिक अपील, पर्चे और पोस्टर द्वारा की गई थी ।

ओडिशा पुलिस द्वारा कालाहांडी व रायगड़ा जिलों में स्थित नियमगिरि पर्वतमाला के निवासी आदिम जनजाति डोंगरिया कोंड समुदाय के लोगों का उत्पीड़न किया जाता है।हमारी मांग है कि इन जिलों में पुलिस उत्पीड़न की निष्पक्ष न्यायिक जांच कराई जाए।

आप से निवेदन है कि पंचायतों के प्रावधान(अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार)कानून तथा वनाधिकार कानून को कमजोर किए जाने के प्रयासों पर लोकहित में रोक लगाएं।वनाधिकार सुनिश्चित करने के लिए ग्राम सभा को अधिकृत किया जाए तथा सिर्फ इसके लिए ग्राम सभा की अलग बैठक बुलाने का प्रावधान हो।वनक्षेत्र में रहने वाले गैर आदिवासी नागरिकों को निवास प्रमाणपत्र हासिल करने में नौकरशाही सहयोगी रवैया अपनाए।हमारी साफ मांग है कि सामुदायिक पट्टे के लिए ग्राम सभा को पूर्ण अधिकार दिया जाए।

भवदीय,
(नियमगिरि सुरक्षा समिति)
(समाजवादी जन परिषद)
816,रुद्र टावर्स,सुंदरपुर,वाराणसी 221005
भुवनेश्वर,11/03/2019

चंचल मुखर्जी, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 द्वारा प्रकाशित एवं दी महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित